ऐसा प्रायः बहुत कम ही होता है कि किसी विद्यार्थी से पूछा जाए कि उसे अपना स्कूल कैसा लगा। प्रायः, यही चिंता अधिक रहती है कि विद्यार्थी स्कूल में कैसा है, किस स्तर पर है, कितना सफल है...। अपनी शिक्षा विद्यार्थी को कैसी लगती है - इसकी चिंता कम ही की जाती है। शिक्षा व्यवस्था को परखने में क्या एक विद्यार्थी की सोच मायने नहीं रखती?...

इस पुस्तक के माध्यम से एक संवेदनशील विद्यार्थी के रूप में हुए अपने अनुभवों, अहसासों को व्यक्त करते हुए युवा लेखिका ने वर्त्तमान शिक्षा व्यवस्था को परखने की कोशिश की है।

स्कूल-पास या फेल? ● रेशमा भारती

स्कूल

पास या फेल?

वर्तमान शिक्षा पद्धति को परखता एक विद्यार्थी का आत्म-कथात्मक आकलन

● रेशमा भारती

स्कूल
पास या फेल?

वर्तमान शिक्षा पद्धति को परखता एक विद्यार्थी का आत्म-कथात्मक आकलन

● रेशमा भारती

pitara the education store
EKLAVYA, E-10, Shankar Nagar
BDA Colony Shivaji Nagar, Bhopal-462016 (M.P.)
Phone: (0755) 2550976, 2671017, Fax: 255 1108
e-mail: pitara@eklavya.in www.eklavya.in

प्रकाशन वर्ष-2004
द्वितीय संस्करण-2010
मूल्य 80.00 रुपये

यह पुस्तक सोशल चेंज पेपर्स द्वारा सी-27, रक्षा कुंज, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063 दूरभाष : 25255303 से प्रकाशित व कुलश्रेष्ठ प्रिंटर्स, ए-11, त्यागी विहार, नांगलोई, दिल्ली-41 दूरभाष : 25472648 से मुद्रित की गई है।

समर्पित

यह पुस्तक समर्पित है हर उस छात्र/छात्रा को जिसे नालायक या फेल ठहराकर उपेक्षित कर दिया इस शिक्षा व्यवस्था ने। जिसके अंदर छिपे गुणों, क्षमताओं से यह व्यवस्था अनजान बनी रही या जिसे ठुकरा दिया गया।

यह पुस्तक समर्पित है हर उस आंसू को, जो गिरता था उस बच्चे की आंखों से जिसे इस व्यवस्था से दर्द, निंदा, अपमान या तिरस्कार मिला।

यह पुस्तक समर्पित है हर उस मासूम मुस्कान को, हर उस हँसी-खिलखिलाहट को; जो बच्चों के मुख पर दौड़ती थी, जब कभी वे उन्मुक्तता, सहजता और सच्ची खुशी महसूस करते थे।

धन्यवाद

इस पुस्तक के लिए विशेष रूप से मैं अपने मम्मी-पापा की आभारी हूँ। उन्हीं के प्रोत्साहन से मैं यह लिख पायी। जब यह पुस्तक मैं लिख रही थी, तो वे निरन्तर आवश्यक सुझाव और मार्गदर्शन देते रहे।

श्रीमती सुरभि शर्मा ने जिस लगन से, इस पुस्तक को आत्मसात कर इसके लिए चित्र बनाए, उसके लिए उन्हें जितना भी धन्यवाद दूँ कम है। फिर भी, बहुत धन्यवाद।

'कुलश्रेष्ठ प्रिंटर्स' के कुलदीप जी व अन्य सभी सहयोगियों का विशेष धन्यवाद, उन्होंने इस पुस्तक को पूरी लगन व मेहनत से छापने में कोई कसर नहीं छोड़ी। प्रेस में, छपे कागजों को पुस्तक का रूप देने वाले, तमाम सहयोगियों का धन्यवाद।

उन सभी लोगों का धन्यवाद जिन्होंने छपने से पूर्व इस पुस्तक को पढ़कर अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव हमें दिए। मनमोहन का विशेष धन्यवाद।

यह पुस्तक मेरे वास्तविक अनुभवों पर आधारित है। वे अनुभव, जो मुझे मेरी शिक्षा के दौरान हुए थे - स्कूल-कॉलेज में, घर में.....। पात्रों के नाम बदले हुए हैं। कुछ स्थानों पर घटनानुमा शैली में लिखते हुए, अलग-अलग समय पर हुए कुछ अनुभवों को आपस में जोड़ा भी गया है। १९८६-१९९३ तक, पहली से दसवीं तक की शिक्षा मैंने अपने घर से कुछ ही दूरी पर स्थित एक सरकारी आदर्श (मॉडल) विद्यालय में प्राप्त की। १९९६-१९९८ के दौरान अपनी ग्यारहवीं और बारहवीं की शिक्षा मैंने घर के निकट स्थित एक सामान्य सरकारी कन्या विद्यालय में 'आर्टस' स्ट्रीम से प्राप्त की। कॉलेज की शिक्षा मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के एक गर्ल्स कॉलेज से प्राप्त की।

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	शुरू में	7
2.	मुझे धक्का लगता है	9
3.	अध्यापकगण / टीचर्स	18
4.	दण्ड	31
5.	यूँ होती थी पढ़ाई	47
6.	छुट्टियों का काम	56
7.	हम हुए कामयाब !	60
8.	रट्टाफिकेशन	63
9.	परीक्षाएं और परीक्षा-परिणाम	65
10.	उत्तर पुस्तिकाएं	77
11.	बदलता माहौल	81
12.	राखी	83

13. तथाकथित 'बिगड़े हुए' 85
14. खाली पीरियड (फ्री टाइम) 93
15. सरकारी स्कूलों का रखरखाव 97
16. कुछ रचनात्मक गतिविधियां 100
17. सुनो ! ..... एक काम करना जरा! 106
18. घर और स्कूल का अंतर 110
19. मैंने झूठ बोलना सीखा 116
20. विज्ञान मेले की सैर 120
21. ट्रैकिंग ट्रिप 126
22. अभिभावकों और अध्यापकगण का मिलना 130
23. धर्म और जाति 134
24. ताला 138
25. शिक्षा के उद्देश्य 142
26. धुंध, पीपा और मशरूम 148
27. तो फिर क्या? 151

शुरू में .....

प्रायः ऐसा बहुत कम होता है कि किसी बच्चे से यह सवाल किया जाए कि उसे अपना स्कूल कैसा लगा? अधिकतर 'बड़ों की दुनिया' में इसी बात की चिंता ज्यादा रहती है कि स्कूल को बच्चा कैसा लगा, स्कूल में या सिस्टम में बच्चा कितना फिट रहा, कितना सफल रहा। शायद ही कभी किसी बच्चे से यह पूछा जाता हो कि वह अपने स्कूल को पास करेगा या फेल.....। बच्चे की परीक्षाएं तो सभी लेते हैं, उसे पास-फेल, सफल-असफल तो सभी ठहराते हैं। पर शिक्षा की परीक्षा कौन लेता है, शिक्षा व्यवस्था की सफलता-असफलता की जांच-परख कौन करता है, शिक्षा-व्यवस्था के गुण-दोषों का निर्णय कौन लेता है? जाहिर है, इस प्रकार के निर्णयों में बच्चे की सफलता-असफलता के स्तर भले ही ध्यान में रखे जाते हों; पर स्वयं बच्चे की इस निर्णय प्रक्रिया में कोई भूमिका नहीं होती।

मैं बचपन, किशोरावस्था और युवावस्था के आरम्भ की दहलीज को पार कर आज एक ग्रेजुएट युवती हूँ। छोटा-मोटा लेखन कार्य करती हूँ। मुझे याद है कि कई बार स्कूल, कॉलेज से लौटकर मैं अपने असंख्य अनुभव, अहसास, भावनाएं..... कभी खुशी, कभी गुस्सा, कभी उदासी. ..... कड़वे-मीठे अनुभव अपने माता-पिता के सामने व्यक्त करती थी। कभी-कभी कुछ अनुभव-अहसास मन के भीतर छिपाए भी रखती थी। आज, मैं उस औपचारिक शिक्षा व्यवस्था का हिस्सा तो नहीं हूँ; पर अपनी स्मृतियों के माध्यम से उससे अभिन्न रूप से जुड़ी हूँ। अपने कई अनुभवों पर आज मैं नए सिरे से सोचती-विचारती हूँ। रोजमर्रा के जीवन में, कभी न कभी, कहीं न कहीं, कुछ ऐसा घट जाता है या दिख-सुन जाता है कि उससे मुझे अनायास ही बचपन या किशोरावस्था का कोई न कोई दृश्य याद आ जाता है या कोई पुरानी बात मेरे अंतर्मन में कौंध जाती है।

जब मैं स्कूल-कॉलेज में पढ़ा करती थी, तो उस व्यवस्था के

भीतर से, किसी ने मुझसे इस किस्म का सवाल नहीं किया कि बताओ, तुम्हें अपना स्कूल या कॉलेज कैसा लगा? यह प्रश्न व्यवस्था के भीतर तो बिल्कुल भी नहीं उठा कि बताओ, तुम इस व्यवस्था को पास करोगी या फेल.....। पर लीक से कुछ हटकर चलने वाले मेरे परिवार का माहौल इतना खुला अवश्य था कि मैं स्वयं अपने आप से यह प्रश्न कई बार पूछ चुंकी हूँ। इसका उत्तर मेरी स्मृतियों में छिपा है; जिन्हें मैं टटोलती रहती हूँ।

फिर लगा कि शिक्षा की इस औपचारिक व्यवस्था को समाज ने ही तो बनाया है, हम सभी ने तो इसे यह रूप दिया है ..... हम सभी तो इसके जिम्मेवार हैं.....। तो फिर मेरा शिक्षा की यादों को यूं टटोलना, यह उधेड़-बुन ..... मेरी अकेले की ही क्यों रहे? क्यों न वह समाज भी इसमें शामिल हो, जिसने यह व्यवस्था बनायी है, जिस समाज का मैं एक अभिन्न हिस्सा हूँ....। इसीलिए अपने स्कूल के (और कुछ कॉलेज के भी) कुछ खट्टे-मीठे अनुभवों को मैंने यह पुस्तक का रूप दिया।

किसी ने नहीं दिया मुझे शिक्षा की इस जांच-पड़ताल का, शिक्षा की इस परीक्षा का हक। मैं स्वयं ही ऐसा करने की जुर्रत कर रही हूँ। क्या आप मेरे खट्टे-मीठे अनुभवों के इस सफर में शामिल होंगे? क्या आप इस जांच-परख में मेरा साथ देंगे?

● ● ●

मुझे धक्का लगता है।

(मुझे ठेस पहुंचती है)

मैं संवेदनशील हूँ। क्या इसमें मेरा कोई दोष है? मुझे अपने जीवन में कई मौकों पर ऐसा अहसास हुआ है कि मानो मन को गहरी चोट पहुंची हो, धक्का लगा हो। मैं इस अहसास के बारे में भला आपको क्यों बता रही हूँ? विशेषकर जब कभी अपने औपचारिक शिक्षा के दौरान बीते समय का, विश्लेषण करती हूँ; तो पाती हूँ कि कुछ अनुभवों, अहसासों को मनुष्य समाज के समक्ष कई प्रश्नों के रूप में रखना मेरा फर्ज है। बीते दिनों की यादों को कुरेदती हुई मैं अपने अनुभवों, अपने विचारों, अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करना चाहती हूँ। क्या मुझे इजाजत है? क्या मैं कुछ कहूँ?

मैं जब प्राईमरी स्कूल में थी, तो मुझे प्रायः तब ठेस पहुंचा करती थी; जब होमवर्क न करके लाने या कुछ याद न कर पाने के कारण मेरे सहपाठियों में से कुछ की पिटाई होती थी। कम ही ऐसे मौके रहे जब मेरी पिटाई की नौबत आयी। पर लगभग रोजाना क्लास में या साथ की कक्षाओं में पिटाई या सजा का सिलसिला चलता रहता था। डरी-सहमी कक्षा के सन्नाटे को चीरता हुआ जब एक भारी-सा थप्पड़ किसी सहपाठी के गाल पर पड़ता था; तब मैं अंदर तक सिहर उठती थी, डर जाती थी, दुखी होती थी और कुछ मायूस या गुमसुम-सी हो जाती थी।

मुझे याद है जब किसी एक-दो बच्चों को या फिर पूरी कक्षा को सजा मिलती थी; तब शर्म और बेचारगी से मेरे गाल गर्म-से हो जाते थे (कुछ बच्चे बताते थे कि मेरे गाल लाल हो जाते थे)। और फिर... उस पूरे दिन के लिए एक बेचैनी का अहसास मेरे मन में बरकरार रहता था।

मुझे इस सबसे ज्यादा धक्का तब पहुंचता था जब किसी को सजा मिलने, किसी को डांट या मार पड़ने पर कुछ शैतान बच्चे मजे लेते थे, उस सजा पाने वाले की खिल्ली उड़ाते या उसे चिढ़ाते थे। कोई

ऐसा कैसे कर सकता है? कुछ समझ नहीं आता था।

मैं डर के कारण और कुछ-कुछ एक जिम्मेदारी के अहसास के कारण अपना हर होमवर्क पूरी लगन से पूरा करके ले जाती थी। जब कभी न कर पाती तो मम्मी-पापा से थोड़ा करवाकर भी ले जाती थी या अगर कुछ न हो सके तो अगले दिन कोई न कोई बहाना बनाकर छुट्टी कर लिया करती थी। क्या मेरे उस बहाने के पीछे छिपे 'डर' की असलियत का मेरे मम्मी-पापा को अंदाजा लग जाता था? पता नहीं, यह तो वे ही जानें।

'डर' के कारण किए गए होमवर्क से मैं वास्तव में कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाती थी। इसीलिए आगे बड़ी कक्षाओं में जाकर मुझे कई बेसिक बातें याद न रह पाने के कारण काफी दिक्कत आयी। आज तक मैं इस कमी को महसूस करती हूँ। लगता है, फिर से प्राईमरी शिक्षा से कई बातें सीखने की जरूरत है।

मैं अनुशासन की बड़ी पाबंद हुआ करती थी और अपने कुछ अन्य सहपाठियों को भी सदा ऐसा करने की ही सलाह दिया करती थी। ऐसा क्यों था? - अब यह सवाल मेरे मन में जरूर उठता है, जबकि मैं यह अच्छी तरह समझ गई हूँ कि उनमें से कई अनुशासन के नियम बच्चों के सहज, स्वाभाविक विकास में कितने बड़े बाधक थे। मैं उनका पूरा-पूरा पालन भला क्यों करा करती थी? यह मुझे अच्छी तरह याद है कि ऐसा करके मैं कभी न तो स्वयं खुश होती थी, न ही अपने मित्रों को कोई खुशी दे पाती थी। पर उस वक्त उन नियमों का पूरा-पूरा पालन करके मुझे कुछ संतोष-सा मिलता था। अब सोचती हूँ कि कितनी छिछला संतोष था वह! मैं ऐसा क्यों करती थी भला? शायद इसके पीछे भी कहीं-न-कहीं डर का भाव रहा होगा। पर शायद इसके पीछे एक भ्रम भी था। भ्रम यह कि टीचर तो सदा स्टूडेंट के भले की ही सोचते हैं, उनके भले की ही करते हैं। यह भ्रम कई बार टूटा और वे मेरे दिल पर पहुंचे कई धक्के थे।

फिर भी इस भ्रम के जाल से निकलने में मुझे अपने भीतर काफी मशक्कत करनी पड़ी। कई बार तो इन धक्कों से मुझे इतना आघात पहुंचा कि मैं अंदर ही अंदर विद्रोही हो गई। खुलकर ये विद्रोही भाव प्रकट करने की मेरी हिम्मत न थी। मैं स्वभाव से ही डरपोक थी। पर मुपचुप रूप से साथियों के साथ बातों में, अपने घर के खुले वातावरण में बात करके, अपनी कॉपियों-किताबों पर कुछ टीचरों के उल्टे सीधे चित्र बनाकर, टीचरों की नकल उतारकर आदि कई तरीकों से मैं अपना गुस्सा बाहर निकालती रही।

कुछ टीचरों के दोहरे-मूल्यों या विरोधाभासों से, कुछ का अपने हित-स्वार्थ का पहले सोचने व बाद में छात्र-छात्राओं की परवाह करने, बच्चों को मूर्ख बनाकर अपनी जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़ने के प्रयासों आदि से मैं इतनी आहत महसूस करती थी कि कई बार बेवजह ही जरूरत से ज्यादा शक्की हो जाती थी। खैर, हर नए शिक्षक के बारे में पहले मेरा भ्रम ही मुझे उसे एक आदर्श के रूप में देखने पर मजबूर करता था। फिर धीरे-धीरे भ्रम की घटा मेरे हृदय से छंटती जाती थी। दिमाग व दिल बेहद सक्रियता के साथ विश्लेषण करने लगते थे। पर सब टीचरों के साथ ऐसा अनुभव नहीं होता था। कुछ टीचरों की अच्छी यादें भी हैं मेरे दिल में जो मरहम का सा काम करती हैं। पर दुर्भाग्य से ऐसे अनुभव कम ही हैं। मैं ही नहीं, मेरे कुछ साथी भी ऐसा कहा करते थे कि "अरे, शुरू-शुरू में सब अच्छे होते हैं, बाद में देखना..।"

मैं सरकारी स्कूलों में ही पढ़ी हूँ। मुझे हमेशा से पब्लिक स्कूल के बच्चों और अपने स्कूल के बच्चों के बीच तुलना करने पर ठेस पहुंची है। उनको प्राप्त सुविधाएं, उनका फराट्टेदार अंग्रेजी में बात करना. .... यह मुझे स्तंभित किया करता था। कुछ बड़ी हुई, तब यह अंतर मुझे चुभने लगा, आहत करने लगा। आसपास जो दिखता था, उसपर सोचा तो अमीर, मध्यम व निम्न वर्गों के बीच बंटे हमारे इस असमानतापूर्ण समाज का अंतर मुझे और भी चुभता-कचोटता, हैरान-परेशान करता रहा, मायूस करता रहा। और हैरानी है मुझे कि न जाने कब मैं इस अंतर को देखने, इसको हकीकत मानने, इसमें जीने की आदी हो गई। क्या

इसी को समाजीकरण कहते हैं?..... मेरे मन में असमानता को देखकर आज भी बेचैनी होती है, कई तरह के प्रश्न उठते हैं और मुझे कचोटते हैं। हे भगवान ! मैं भी गलतियां करती हूँ। इस असमानता को कम करने में मैं भी निष्क्रियता का परिचय देती हूँ। न जाने कब मैं इस विषमता को सहज जीवन का एक अंग मान बैठी। पर फिर यह बेचैनी, यह प्रश्नों का उठना.....? क्या मैं पूरी तरह इस समाज में रम नहीं पायी? अगर विषमता, असमानता मुझ में बेचैनी, असंतोष, विद्रोही भाव, खलबली मचा देने वाले प्रश्न या विचार भी खड़े नहीं करते; तो मैं अब की स्थिति से कहीं ज्यादा गिरी हुई इंसान होती। कम से कम इतनी इंसानियत तो मुझ में बची रहे.....। इस बेचैनी को समाज में कोई सकारात्मक अभिव्यक्ति मिल सके.....।

मेरा स्वयं इंसानियत के गुणों को टूटता देख हालात से समझौता करना, मेरे आसपास इन गुणों का मखौल उड़ाए जाने, आज के माहौल में इन गुणों की कम होती अहमियत, समाज में रहकर इन गुणों को बचाये रखने में आने वाली कठिनाईयां - यह सम्पूर्ण प्रक्रिया मेरे लिए धक्के लेकर आती रही।

जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गई, पढ़ने-लिखने व अध्ययन-मनन में अधिकाधिक रूचि लेने लगी। पर मैं महसूस करती थी कि जो कुछ किताबों की दुनिया में अच्छा बताया जाता है, अच्छे गुण-आदर्श, वे सब व्यवहार में बहुत कम ही नजर आते थे। समाज में इन गुणों-आदर्शों पर चलने पर आप हँसी या मजाक के पात्र बनते हैं या अव्यवहारिक कहलाते हैं।

एक बात और जो मैं बचपन से ही कुछ-कुछ महसूस करती थी, पर जब बड़ी होने लगी तो ज्यादा गहराई से इसे महसूस किया, सोचा-विचारा। वह बात यह थी कि पढ़ाई में या खेलों में फस्ट आने, किसी दूसरे से बेहतर पोजिशन पाने, दूसरों से आगे निकलने की होड़ या प्रतिस्पर्धा में किसी को पिछाड़ने की इच्छा भला हम क्यों करते हैं? बचपन में मैं अपने आपको प्रतिस्पर्धा के अयोग्य समझती थी (क्या इसे

हम आत्मविश्वास की कमी कहेंगे?)। सच्चाई तो यह है कि प्रतिस्पर्धा और उसमें कुछ कर पाने की ललक के प्रति मैं उदासीन रही। दूसरों से आगे बढ़ने की भावना मुझमें नहीं उठती थी। जब दूसरे इनाम हासिल करते, कोई अच्छी पोजिशन पाते; तब भी मैं यह नहीं समझ पाती थी कि इस पर मैं कैसे रिएक्ट (अभिव्यक्त) करूँ। सबकी देखा-देखी ऐसे में मैं भी खुशी का इज़हार करती थी; पर सच पूछो तो इन सब बातों पर कभी दिल की गहराई से किसी को बधाई मैंने नहीं दी। दूसरों को खुश होता देख मैं भी खुश होती थी। यह अहसास कि मेरा कोई प्रियजन खुश है, मुझे खुशी देता था। पर हार-जीत की इस सतही खुशी से मैं कुछ अनजान ही बनी रही। स्वयं इस प्रकार की सफलता पाने की ललक भी न जगती थी। अगर कभी मुझे कोई तथाकथित सफलता मिल जाती तो शायद उसको लेकर जितनी खुशी या उत्साह मेरे कुछ मित्रों को होता था; उतना अपने मन से मैं सहज रूप से व्यक्त नहीं कर पाती थी। मेरे लिए यह अहसास ही एक अजनबी-सा अहसास था। दूसरों से आगे निकलकर, भीड़ में अपने को अलग हटकर दर्शाना, विशेषता-सम्पन्न या विशेष प्रतिभा-युक्त सिद्ध करना अपने को..... भला इस सबसे कैसा संतोष मिलता है, कैसी खुशी मिलती है? - तब मुझे यह समझ नहीं आता था। मैं मासूम बच्ची थी या फिर निरी बुद्धू?

पर मेरे इस सहज-स्वाभाविक व्यक्तित्त्व पर शंका प्रकट की गई। मुझे 'व्यवहारिक' बनने की ओर धकेला गया। इसमें मेरे टीचरों की काफी भूमिका रही, कुछ मेरे मित्रों-रिश्तेदारों की भूमिका रही। मुझे यह बताते गर्व होता है कि इस दिशा की ओर मुझे धकेलने में बहुत कम ही या लगभग न के बराबर ही मेरे माता-पिता की कोई चेष्टा रही। उन्हें सदा से मैं सहज रूप में पसंद रही हूँ। मैं अपने काम में पूरी तरह खुद ही मग्न होकर या मिल-जुलकर एक-दूसरे के सहयोग से कुछ करने में खुशी अनुभव करती थी। पर सबसे आगे निकलने, अपने को दूसरों से बेहतर सिद्ध करने या फस्ट आने से खुशी हांसिल करना मेरे लिए अस्वाभाविक था।

पर मैं बदली। मैं यह भी तो कह सकती हूँ कि मुझे बदला गया।

पर ईमानदारी से कहें तो यदि व्यक्ति दृढ़ निश्चयी हो, अपनी इज्जत करना जानता हो, तो वह बदलता नहीं है। पर उस अवस्था में शायद तब तक मेरा इतना गहराई से सोचना-समझना भी विकसित नहीं हुआ था। मेरा तो बस ऐसा सहज ही व्यक्तित्व था। वही 'सहज' लोगों को 'असहज' जान पड़ा। ..... और मुझे प्रेरित किया गया, मुझसे अपेक्षाएं रखी गईं, मुझे उकसाया गया, कि सब में अलग चमकों, दूसरों से आगे बढ़ो, कुछ ऐसा कर दिखाओ जो तुम्हें अन्यों से बेहतर सिद्ध करे, अच्छे नम्बर लाओ, प्रतिस्पर्धा में आगे निकलो.....। मैंने ऐसा किया दूसरों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर। मुझे धीरे-धीरे कुछ सफलता मिलने लगी, मैं दूसरों की प्रशंसा का पात्र बनने लगी। और फिर धीरे-धीरे मुझे भी इसमें रस आने लगा। बस फिर क्या था, दिन-रात जुटे रहो और अपना जो स्थान बनाया है- उसपर कायम रहो। उस मुखौटे पर तुम्हारा मुख हमेशा फिट रहे-बस इसी प्रयास में लगे रहो, और..... और आगे निकलो।

पर इस सब में मैं, भारती, कहीं खो गई। मेरे व्यक्तित्व के दो पाट हो गए। मैं अपने सहज-स्वाभाविक स्वरूप को भी न छोड़ पाती थी और जिस रूप में कुछ लोग मुझे देखने की अपेक्षाएं रखते थे, उसका मोह भी न छोड़ सकी। इससे मेरा विकास असहज, अस्वाभाविक होने लगा।

मैं अच्छी पोजिशन पाने का जी-तोड़ प्रयास करती। कई बार मैं सफल रही। पर इस सब में मुझे कोई सच्ची खुशी, कोई संतोष नहीं मिलता था। मैं बेचैन रहती थी। मैं जो पढ़ा करती, उसे सीखने-अपनाने का प्रयास किया करती थी, अपने आसपास अच्छे जीवन मूल्यों को फलते-फूलते देखना चाहती थी।

मैं जीतती थी और जीतने में बाहरी खुशी अनुभव करना भी सीख गई थी। पर जो हारा है या जो पिछड़ गया है, उसके लिए

मन में टीस-सी रहती थी, प्यार उमड़ता था और सच पूछो तो मुझे वो अपने ज्यादा नजदीक जान पड़ता था (यद्यपि बाहरी तौर पर मैं आगे निकल गई होती थी और वह मुझसे दूर रह जाता था)। दरअसल, मैं सुखी नहीं थी। और यह बात मैं उस पिछड़ गए साथी को बताना चाहती थी- मैं खुश नहीं हूँ। कई बार मैंने यह अनुभव किया कि जो प्रतिस्पर्धा में मेरे पीछे रह गया, वह कई मायनों में मुझसे ज्यादा बेहतर इंसान है। कई बार लगा कि तथाकथित 'पिछड़े हुए' लोगों में शायद मुझसे ज्यादा इंसानियत शेष है। कुछ की ओर मैं आकर्षित हुई क्योंकि मुझे उनके जीवन में ज्यादा सुकून नजर आया। जब कभी मैंने अपने इन अहसासों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की; तब मुझे गलत समझा गया। किसी ने इसे मजाक समझा, तो किसी ने मेरा घमण्ड समझा, तो कोई यह सोचने लगा कि यह हमें अपने से आगे नहीं बढ़ने देना चाहती!

बहुत कम ही थे, जो मेरे नजदीक आए। उन्होंने मेरे अंदर बैठी भारती को देखा, उसे पहचाना। बहुत कम ही मेरी इस व्यथा को समझ पाए। स्कूल-कॉलेज के अनुभवों से मुझे कुल-मिलाकर (कई मधुर स्मृतियों के बावजूद) ऐसा लगा मानो मुझसे मेरा बचपन, मेरी वास्तविक खुशी, मेरी सहज हँसी और मेरी कुछ इंसानियत छीनी गई हो। यह पूरी प्रक्रिया मेरे लिए धक्कों से परिपूर्ण थी, कुछ धक्कों ने मुझे अस्वस्थ भी कर दिया, मेरे मन को मुरझा दिया, मुझे मायूस कर दिया या फिर कुंठित कर दिया।

मेरे कुछ अपेक्षाकृत अधिक समझदार व कर्तव्यनिष्ठ टीचरों ने भी जब-जब प्रतिस्पर्धा की अंधी-दौड़ को प्रोत्साहित किया, जब उन्होंने परीक्षा-आधारित पढ़ाई को ही प्रेरित किया; तब मुझे ठेस पहुंचती थी।

> पढ़ाई का एकमात्र महत्त्वपूर्ण औचित्य अच्छे नम्बर, अच्छी पोजीशन पाना ही जब रह जाता था; तब मुझे बेचैनी होती रही, ठेस पहुंचती रही।

बड़ी कक्षाओं और कॉलेज में जाकर यह बेचैनी बढ़ती चली गई। यहां मैंने अधिक गहराई से महसूस किया कि परीक्षा, पोजिशन, नम्बरों, स्तरों, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा पर आधारित यह पढ़ाई कितनी सतही है, कितनी व्यर्थ है। विषय की गहरी समझ विकसित करने, उसके बारे में मौलिक ढंग-से सोचने-विचारने, नए-नए प्रश्न खड़े कर अपने मन-मस्तिष्क और आसपास के वातावरण में उनके उत्तर टटोलने, जो पढ़ा गया-उससे सीखने व उसे जीवन में अपनाकर देखने, उसका प्रयोग करके देखने और उसे जीवन में उतारने आदि की कद्र शिक्षा व्यवस्था में बहुत कम या न के बराबर थी। नम्बरों, पोजीशनों, इनामों, जानकारी के रट्टाफिकेशन, परिक्षाओं, परिणामों आदि पर आधारित इस व्यवस्था में इन सबका स्थान कहां था? इन अहसासों से मैं आहत होती थी।

मुझे द्वंद में जीना पड़ा। दो पाटों में बंटना पड़ा। मैं विषय की गहरी समझ बनाना चाहती थी, उससे कुछ सीखना चाहती थी, सीखे हुए को अपनाकर देखना चाहती थी, सोचना-विचारना चाहती थी, चिंतन-मनन करना चाहती थी। और इस सबके लिए यह व्यवस्था कोई विशेष समय न देती थी। और फिर मैं सबकी अपेक्षाओं पर खरी उतरने की इच्छा भी तो रखने लगी थी, अपने 'स्तर' को बरकरार रखना भी तो चाहती थी। इसलिए सबकी तरह मुझे भी कोर्स ठीक समय पर खत्म करना था, जानकारियां अपने दिमाग में भरनी थी, काफी कुछ बिना समझे भी रटना था, जो समझा वह भी केवल अच्छे उत्तर बनाने के लिए, प्रश्नों के उत्तर देना समझना था, अच्छे नम्बर लाने थे...। साल-दर-साल वही निर्धारित पैटर्न। ऐसे में भला मेरे अंदर की भारती क्यों न ऊब जाती या हताश हो जाती या अधिक सकारात्मक कहूँ तो विद्रोही हो जाती।

मैं इस काबिल भी हुई कि अपने को पहचान सकूं और अपनी अच्छाई-बुराई को समझ सकूँ। जैसे-जैसे अपने आप को पहचानने का, अपने आप से संघर्ष करने का, अपने गुणों को सुरक्षित रखने, अवगुणों

से लड़ने का सिलसिला आगे बढ़ता है; वैसे-वैसे मैं अपने को द्वंदों से बाहर निकलता पाती हूँ। कभी-कभी मैं व्यवस्था के प्रति विद्रोही-सी हो जाती और यह विद्रोह यत्र-तत्र मेरे व्यंग्यों के रूप में बाहर आता। मैं कभी-कभी घबराकर एसकेपिस्ट (पलायनवादी) भी हुई।

मैं संवेदनशील हूँ। मुझे धक्का लगना स्वाभाविक है। आपमें से कई लोग मेरी तरह होंगे। उन्हें भी ऐसे धक्के लगते होंगे। जैसे मैं हिम्मत जुटाकर इन धक्कों की चोट से संभल जाती हूँ, फिर से आशा जगाकर अपने अंदर और बाहर को टटोलने लगती हूँ; वैसे आपमें से कई लोग भी करते होंगे। फिर मैंने यह सब क्यों लिखा? क्या उद्देश्य है मेरा? मैं सोचती हूँ कि मुझे जो धक्के लगते रहे हैं, क्या वे सारे समाज के लिए धक्का नहीं है? क्या यह व्यथा इस समाज की व्यथा नहीं है? क्या आप मेरे इस मंथन में शामिल नहीं होंगे?

मैं सिर्फ बेहतर कल के सपने ही नहीं देखती (देखती होती तो अपने अनुभव अहसास यूँ आप तक न पहुंचाती)। मैं बेहतर कल के लिए अपने छोटे-से स्तर पर ही एक छोटी-सी लड़ाई भी लड़ना चाहती हूँ। अपनी व अपने आस-पास के माहौल की खोई हुई सहजता, गुमी हुई या बदनाम हुई इंसानियत को खोजना चाहती हूँ, जीना चाहती हूँ अधिक सार्थक इंसानियत के साथ। अपने अंतर्मन में झांककर उसे टटोलती, अपने वातावरण को टटोलती, अपने माहौल की कृत्रिम व सतही प्रवृत्तियों से संघर्ष करती, निरन्तर जूझती.....। अपने इस व्यक्तिगत मंथन को (अपनी जिम्मेदारी समझते हुए) एक सामाजिक मंथन बनाना चाहती हूँ मैं। कई प्रयास करने होंगे। एक प्रयास यह भी है- ..... मैं यह लिख रही हूँ। क्या मैं कुछ कहूँ? .....

● ● ●

अध्यापकगण / टीचर्स

शिक्षकों की विद्यार्थियों के जीवन में बड़ी अहम् भूमिका होती है। किसी टीचर का प्यार व विश्वास और उचित मार्गदर्शन जहां एक विद्यार्थी को जीवन-भर हौंसला देता है, दिशा दिखा सकता है; वहीं दूसरी ओर किसी टीचर की अनुचित डांट, मार और तीखे कटाक्ष उस विद्यार्थी को जीवन-भर चुभ सकते हैं, उसमें हीन भावना ला सकते हैं या उसे उद्दण्ड बना सकते हैं।

अपने स्कूल, कॉलेज के दिनों में कुछ टीचरों के मैं करीब आयी, तो कुछ से दूर भागने का मन चाहता था। कुछ के प्रति मन में सम्मान और विश्वास जगता, तो कुछ से मैं केवल डरती रही। कुछ के प्रति मन में घृणा भी जागी और कुछ का मैं मजाक भी उड़ाया करती थी। इस संदर्भ में मेरे स्वयं के अनुभव, अहसास, मेरी कक्षा के अन्य सहपाठियों का रूख, कक्षा का माहौल, स्कूल का माहौल - ये सब मिलकर कुछ इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत करते हैं .....

पहली कक्षा की बात थी। मैं पढ़ाई में कुछ कमजोर पड़ रही थी। शायद के.जी. न करने के कारण मुझे मात्राओं का ज्ञान ठीक से नहीं था और सीधा पहली कक्षा में वाक्यों, अनुच्छेदों को पढ़ने-लिखने में मुझे विशेष कठिनाई आती थी। हमें कुछ विषय एक बहुत-ही बुजुर्ग टीचर पढ़ा रही थीं। वे इतनी बुजुर्ग थीं कि ठीक से चल भी न पाती थीं, प्राय: उन्हें सहारे की जरूरत होती थी और उनके हाथ काँपते रहते थे। वे सख्त मिजाज की भी थीं। पर अपनी ड्यूटी के प्रति काफी ईमानदार थीं और हर विषय को पूरी लगन से पढ़ाती थीं। हर बच्चे पर उनकी नजर रहती थी और मूलत: वह यह चाहती थीं कि हर बच्चा भली-भांति पढ़ना-लिखना सीख जाए। मुझे और मेरे कुछ अन्य सहपाठियों को उनके डर भी लगता था क्योंकि गलती करने पर वे डांटती-मारती थीं और

सजा भी देती थीं।

इधर उन्होंने मेरे माता-पिता से बात की थी कि मैं पढ़ाई में कुछ कमजोर पड़ रही हूँ। उन्हें शायद यह जानकर अच्छा लगा होगा कि मेरे अभिभावक मेरे प्रति काफी संवेदनशील हैं और वे इस समस्या का हल मेरे साथ पूरी-पूरी मेहनत करके और मुझे विशेष समय देकर करना चाहते हैं। मुझे बड़े होने पर काफी बाद में पता चला कि उन मैडम की प्रतिक्रिया काफी सकारात्मक थी और उन्होंने अपनी ओर से पूरा सहयोग दिया।

उन्होंने मुझे अधिक छुट्टियां देकर घर में खूब मेहनत करने का अवसर दिया। मेरी मम्मी भी कई बार कक्षा में आकर मेरी पढ़ायी के बारे में उनसे सलाह लिया करती थीं, कक्षा में भी मेरी ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। मुझे धैर्य से, प्यार के साथ कुछ विषय बार-बार समझाए।

पता नहीं मेरे अभिभावकों ने उनसे क्या बात की होगी और पता नहीं उन्होंने मुझमें क्या देखा होगा। पर लगता है वह धीरे-धीरे यह समझ गईं कि मैं बेहद संवेदनशील लड़की हूँ, और डांट या मार नहीं, बल्कि प्यार और विश्वास मुझसे सब कुछ करा सकता है। बस फिर क्या था, मेरे प्रति उनका रवैया मधुर होता चला गया। वह धीरे-धीरे मुझे काफी प्यार करने लगीं और यह चाहत या मुझे प्रोत्साहित करने की उनकी यह ललक इस कदर बढ़ी कि उन्होंने मेरे व मुझ

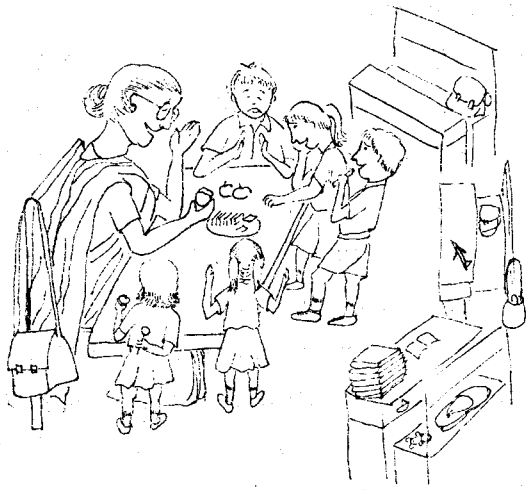

जैसे कुछ संवेदनशील बच्चों के साथ ही आधी छुट्टी (लंच-ब्रेक) का समय बिताना शुरू कर दिया। वह हम दो-तीन बच्चों के साथ ही मिल-बांट कर खाना खातीं, हमसे बातचीत करतीं और कभी-कभी किसी को भेजकर हमारे लिए टॉफी या बिस्कुट मंगवाती। शायद कक्षा के अन्य बच्चों को यह अजीब लगता हो। शुरू-शुरू में हम भी उनसे कुछ डरे-डरे रहते थे, उनके साथ यूँ खुलने में झिझकते थे। पर धीरे-धीरे हमें अच्छा लगने लगा।

और यूं बढ़ता गया उनपर हमारा और हमपर उनका विश्वास...।

● ● ●

पहली या दूसरी कक्षा (मुझे अब ठीक से याद नहीं आता) की एक मधुर स्मृति है मेरे दिमाग में।

''ओहो, आज फिर जल्दी छुट्टी हो गई। अब मैं घर कैसे जांऊगी?'' ..... यह एक बड़ी समस्या थी। कभी-कभी, किसी न किसी कारण से (कभी कोई हड़ताल हो जाती, कभी किसी की मृत्यु हो जाने पर स्कूल बंद हो जाता, कभी किसी समस्या पर कोई महत्त्वपूर्ण मीटिंग होती।) स्कूल में जल्दी छुट्टी हो जाती और बेचारे बच्चों को इसका खामियाजा भुगतना पड़ता, विशेषकर छोटे बच्चों को। अचानक छुट्टी हो जाने की खबर का यद्यपि लगभग हर बच्चा खुशी से स्वागत करता था कि चलो आजादी तो मिली; पर साथ ही दूर से आने वाले बच्चों, विशेषकर छोटे बच्चों के लिए चिंता पैदा हो जाती थी कि अब घर कैसे पहुंचा जाए। उनको लेने आने वाले उनके रिक्शावाले, स्कूटरवाले या उनके अभिभावक तो इस जल्दी छुट्टी की खबर से अनभिज्ञ रहते थे। इस स्थिति में प्रायः छोटे बच्चे अकेले पड़ जाते थे। पर आस-पड़ोस में रहने वाले कुछ बच्चे ग्रुप बनाकर चले जाते थे, तो कुछ इतने चुस्त थे कि किसी न किसी बड़े बच्चे के साथ हो लिया करते थे। पर मैं तो इन मामलों में निरी भोंदू ही थी और

असहाय-सी स्कूल के बाहर खड़ी भीड़ को छंटते देखती रहती थी। और जैसे-जैसे स्कूल सुनसान पड़ता जाता, मेरा दिल बैठता जाता था। यद्यपि एक विकल्प मेरे पास रहता था - अपनी एक सहेली (जिसका घर पास में ही था) के घर चले जाना। पर अगर वह उस दिन अनुपस्थित हो, तो फिर यह विकल्प भी मेरे पास नहीं बचता था। मुझे याद है कि एक दफे मैं काफी हिम्मत जुटाकर अपने घर तक अकेले ही पैदल चलकर आ गई थी। पर ऐसी हिम्मत बार-बार तो जुटती नहीं।

उस दिन भी कुछ ऐसा ही माहौल था। सुनसान पड़ चुका स्कूल था। बच्चे तो प्रायः जा चुके थे। गेट से एक-दो टीचर कभी-कभी निकल कर चले जाते थे। काफी देर हो चुकी थी और मैं चिलचिलाती धूप से बचने का प्रयास करती एक पेड़ के नीचे उदास व परेशान-सी खड़ी थी। मेरा चेहरा गर्म हो रहा था, कुछ गर्मी से और कुछ बेचैनी से। उस दिन भी जल्दी छुट्टी हो गई थी। छुट्टी के बाद से मेरा समय भीड़ को छंटते देख, तरह-तरह के सवालों से घिरते, बेचैन होते और सुनसान पड़ते रास्ते को भय से निहारते देख बीता था। 'अब क्या होगा?' - मैं सोच रही थी। बोतल का पानी भी समाप्त हो चुका था और गर्मी व बेचैनी से मेरा कंठ सूखा जा रहा था।

तभी एक कोमल स्वर पीछे-से मेरे कानों में पड़ा। पीछे मुड़कर देखा तो मेरी दो अध्यापिकांए खड़ी मुझसे पूछ रही थीं - ''क्या हुआ बेटा? यहां ऐसे क्यों खड़ी हो? घर नहीं जाना क्या?''

मुझे लगा जैसे बस इसी मधुर स्वर की जरूरत थी। मानो जान में जान आयी और मैंने घबराए हुए स्वर में अपनी मुश्किल कह सुनायी।

उन्होंने प्यार-से मेरे गाल को सहलाया। मुझे पानी पिलाया और फिर कुछ प्रश्न पूछे- कहां है तुम्हारा घर?, घर में इस समय कोई है क्या?, रोज तुम किसके साथ जाती हो?, किस रास्ते से जाती हो? आदि-आदि।

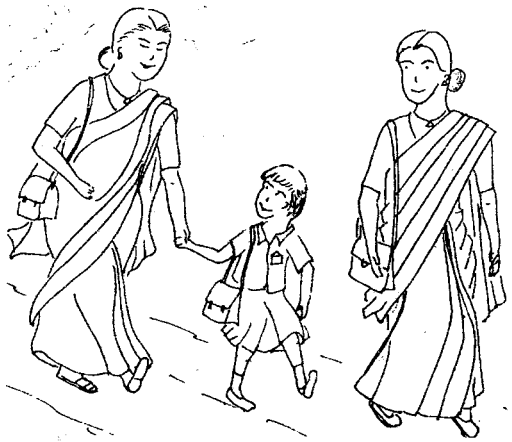

फिर उन दोनों टीचरों ने आपस में कुछ बात की और मुझे तसल्ली देते हुए कहा कि "चलो हम तुम्हें छोड़कर आयेंगे। तुम हमें रास्ता बताती चलो।" और फिर उस तेज चिलचिलाती हुई धूप में वे दोनों अध्यापिकाएं मुझसे बतियाती हुई मेरे घर तक मुझे छोड़ने आयीं।

मुझे याद है, उनके साथ घर की ओर बढ़ता मेरा हर कदम मुझमें विश्वास को बढ़ाता था, मेरा हौंसला बढ़ाता था और उन दोनों टीचरों के प्रति मेरे मन में सम्मान की भावना को भी बढ़ाता जाता था।

घर पहुंचने पर मेरे माता-पिता तो जैसे उनके प्रति कृतज्ञता से भर भाव विभोर हो गए। उन्होंने पानी पिया, कुछ देर बैठ कर बातें की और फिर वे मुझे प्यार कर चली गईं।

जाते-जाते मेरे को हाथ हिलाकर जो वे बाय-बाय कहती गईं, उससे मैं उनके और भी नजदीक आ गई। कक्षा में मैं शायद उनसे कुछ डरती थी और दूर-दूर रहती थी। पर अब कुछ समय के लिए लगा कि ये दूरियां अचानक कम होती जा रही हैं और उस समय मैं उनके

अधिक करीब आया महसूस कर रही थी।

● ● ●

यह तब की स्मृति है जब हम नौवीं-दसवीं में पहुंच गए थे। हमारे स्कूल में एक अनोखा टीचर था। वह बेहद सख़्त था और बच्चों को मारने-पीटने में अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात था। उसके हाथ में हमेशा एक मोटा-सा डण्डा रहता था, जो उसी की तरह कुख्यात था। उस टीचर का अनुशासन काफी हद तक उसकी खुद की सुविधा को ध्यान में रखकर बनाया गया था। वह स्वयं किसी कक्षा में कम ही जाता था। उसके पीरियड में संबंधित कक्षा को उसके कमरे तक जाना पड़ता था। फिर एक मैली-बदबूदार दरी को झाड़कर उसपर पंक्तिबद्ध बैठना होता था। इस प्रक्रिया में चूक हो जाने या कुछ देर हो जाने पर बच्चों को उसके डण्डे से पिटना पड़ता था। इस कमरे में प्रायः स्टोव या हीटर पर रबड़ी या खीर आदि पकने के लिए दूध पकता रहता था और स्कूल के कुछ टीचरों का जमघट वहां जमा रहता था। यह टीचर अपनी सोच में कट्टरवादी और रूढ़िवादी था। कहने को वह ब्रह्मचारी था, पर लड़कियों को उसकी अजीब निगाहें हमेशा घूरती रहती थीं।

जब कभी वह खाने-पीने व गप्पे हांकने में मस्त होता था, तो उसके कमरे के बाहर दरी पर बैठे बच्चे काफी मजे किया करते थे। पर जब शोर ज्यादा मचता तो वह डण्डा फटकारते हुए पेश होता था, फिर एक-दो की पिटाई होती थी। पीटते हुए वह कभी-कभी बुरी गालियां भी देता था और उसकी मार के बाद दहशत-भरी चुप्पी छा जाती थी। फिर धीरे-धीरे स्थिति सामान्य होती थी।

बच्चे भी पीठ पीछे उसे गालियां देते थे। उसके सामने प्रायः सब डर से दुबक जाते। पर कभी मौका पाकर दबे स्वर में उसके लिए अपशब्द कहते, पीछे बैठकर उसके डरावने चित्र बनाते या आगे बैठ उसके जूतों से चुपके से छेड़छाड़ करते।

● ● ●

कई टीचरों के लिए उनके पीठ पीछे हम बुरे शब्दों का प्रयोग भी करते थे। कुछ चंचल बच्चे तो टीचरों के सामने भी उनका मखौल उड़ाने से बाज न आते थे। दरअसल कई अध्यापक-अध्यापिकाओं के प्रति बहुत कम या न के बराबर सम्मान बच्चों के मन में था। अपेक्षाकृत ईमानदार व जिम्मेदार टीचरों को इतना सम्मान अवश्य मिलता कि हम उनके लिए कोई बुरी बात न सोचते, न ही उनका मजाक उड़ाया जाता।

> डांट-डपट के माहौल में जब कभी किसी टीचर का प्यार मिल जाता या वे हमें समझ पाते; तो हम निहाल हो जाते।

मुझे याद है एक टीचर कई बातें समझाने के लिए हमें किस्से-कहानी या कविता सुनाया करते थे। उसका प्रायः अच्छा असर पड़ता था और मन में उन टीचर की इज्जत भी बढ़ती थी।

पर आमतौर पर अधिकांश टीचरों से डरा जाता था या फिर कईयों का मजाक उड़ाया जाता था। 'बड़े गलत नहीं होते' - यह मिथक जिन बच्चों के मन-मस्तिष्क में उनके पारिवारिक संस्कारों ने जमाया होता था; प्रायः वे बच्चे टीचरों के मजाक उड़ाए जाने पर 'हाय! हॉ!, हे भगवान!, कैसे कह रहे हो तुम?' - जैसे शब्दों से आश्चर्य प्रकट करते। पर फिर अगले ही पल वे भी हँस देते क्योंकि उन्हें भी तो उन टीचरों के जीवन का विरोधाभास, उनका डांटना-डपटना, मारना-पीटना, अपनी जिम्मेदारियों को हल्का करने के उनके प्रयास और उनका रौब जमाना दिखता ही था।

कई टीचरों का ठीक से न पढ़ाना, शॉर्ट कट अपनाना, यहाँ-वहाँ की गप्पों में समय बिताना और अपना गुणगान स्वयं करते रहना हमें अखरता था। कुछ तो बकायदा जो थोड़ी-बहुत भी मेहनत हमारे लिए करतें, उसका भी मानो अहसान जताया करते थे।

दसवीं कक्षा में एक बार साइंस के हमारे एक अध्यापक ने कक्षा

में यूं ही गप्पे मारते हुए, बातों-बातों में हमें कह सुनाया (कुछ इस लहजे में मानों उनके हमपर बहुत अहसान हों) - "अरे, तुम लोग तो मुफ्त में पढ़ रहे हो। तुम्हारा सारा खर्चा तो सरकार ही उठा रही है। ....."

जो टीचर पाठ्यक्रम के प्रति पर्याप्त रूप से जिम्मेवार रहते, अपने काम को गंभीरता से लेते, हमारे लिए मेहनत करते, हमें लगन से पढ़ाते उनके प्रति बच्चों में सम्मान की भावना थी। पर उनसे प्रायः बच्चे डरते भी थे। वे बच्चों से काफी अपेक्षाएं रखते थे, अपने विद्यार्थियों को लेकर वे प्रायः काफी महत्त्वाकांक्षी थे, प्रतिस्पर्धा को बहुत बढ़ावा देते थे। उनकी असीम अपेक्षाएं बच्चों में कई किस्म के तनाव पैदा करती थीं और बच्चों को उन टीचरों से दूर ले जाती थीं। प्रायः होमवर्क, नम्बरों, पढ़ाई की क्षमता के आधार पर विद्यार्थियों के बीच कई टीचर काफी भेदभाव किया करते थे।

जो बातें हम पुस्तकों से सीख सकते हैं, हमें पढ़ाई-समझायी जाती हैं, ऐसा कम ही नजर आया कि स्वयं शिक्षक उन बातों को अपनाते हों। बल्कि कभी-कभी उन विचारों के ठीक विपरीत आचरण करते भी कई टीचर नजर आते थे। यह विरोधाभास कचोटता था।

कभी-कभी मेरे साथ ऐसा भी हुआ कि वास्तव में मैं किसी टीचर से डर रही होती थी; पर ऐसे में उस टीचर का जरा-सा भी प्यार पाकर या उसके उदार व्यवहार से, मैं निहाल हो जाती थी। फिर बिना किसी आदेश-निर्देश के मैं खुद-ही अपने को सुधार लेती। .....पांचवी कक्षा की एक बात याद है मुझे। उस दिन गीता मैडम एक-एक कर सबके डेस्क पर पहुंचकर होमवर्क चैक कर रही थीं। गीता मैडम मुझे पसन्द थीं और वह भी मुझे प्यार किया करती थीं। उनका विषय भी मेरा प्रिय विषय था। पर उस दिन मैं डर रही थी। होमवर्क न करके लाने वाले बच्चे तो पहले ही अलग किए जा चुके थे और उन्हें बाहर सजा दी गई थी। हम सब होमवर्क करके लाए थे, जो अब चैक हो रहा था।

मैंने होमवर्क तो पूरा किया था; पर मेरी कॉपी में कुछ पन्ने ऐसे थे, जिनको लेकर मैं सहमी हुई थी। 'पता नहीं क्या होगा? मैडम समझ तो जाएंगी हीं। अब क्या होगा? मैडम क्या कहेंगी? सबके सामने मुझे डांट पड़ेगी। उफ! काश मैंने ऐसा न किया होता। ... मैडम पास आ रही हैं। काश घण्टी बज जाए...।' हुआ दरअसल यह था कि कुछ छुट्टियां कर लेने के कारण, मेरे पास काफी विषयों का बचा हुआ काम जमा हो गया था। इसीलिए जल्दबाजी में सब काम निबटाने की उधेड़बुन में मैंने कुछ काम अपने पापा से करवाया था। उन्होंने भी मेरी चिंता कम करने के लिए यह कर दिया था। मेरे इस प्रिय विषय के दो-चार पन्ने भी पापा के हाथ से लिखे गए थे। मैंने यह सोचा था कि हमेशा की तरह मैडम कॉपियां एकत्र कर ले जाएंगी और फिर कुछ दिनों में बात आयी-गयी हो जाएगी। पर आज तो कुछ और ही माहौल था। आज तो मैडम स्वयं हर-एक की सीट पर जा-जाकर सबके सामने ही कॉपियां चैक कर रही थीं। 'हे भगवान! आज ही यह होना था।'

मैं मन ही मन घबरा ही रही थी कि मैडम मेरी सीट पर आ पहुंचीं और सामने डेस्क पर पड़ी मेरी कॉपी चैक करने लगी। मैं जैसे सांस थामे बैठी थी .....'कब वे पन्ने आयेंगे और फिर मुझे डांट पड़ेगी!'

मैडम एक के बाद एक पन्ने चैक करती जाती थीं। वे पन्ने आए। तेजी से चलता मैडम का पैन कुछ देर के लिए रूका। मेरी सांस भी मानो अटक गई। मैडम ने अपना सिर उठाकर मेरे लाल होते चेहरे को एक क्षण देखा और मुस्करायीं। मैं जम-सी गई।

मैडम ने उन पन्नों पर भी '✓' निशान लगाया और फिर आगे के कुछ पन्ने चैक करने लगीं।

मैं सामने नजरें झुकाए खड़ी थी। मेरी कॉपी चैक हो गई थी और मैडम ने उसे लौटाते हुए मुझसे पूछा-''बेटा, किसने मदद की तुम्हारी?''

मैं सकपकायी और हकलाते हुए मेरे मुंह से धीरे-से निकला - ''वो ... पापा।''

''अच्छा तो तुम्हारे पापा डॉक्टर हैं क्या?'' - मैडम ने पूछा।

अचानक इस प्रश्न से मैं चौंकी और धीरे से बोली - ''नहीं''।

"अच्छा तो फिर वे जरूर राइटर (लेखक) होंगे।" - मैडम ने कहा।

मैं हक्की-बक्की रह गई। 'मैडम ने कैसे जाना? और अब ... क्या कहेंगी मैडम मुझे?...'

मैंने धीरे-से स्वीकार किया - ''हां, वो राइटर हैं।''

मैडम मुस्करायीं और मुझे कॉपी थमाते, आगे बढ़ते हुए धीरे-से मेरे गाल पर एक चुटकी लेते हुए बोली - ''लगता है, तुम अपने पापा की लाडली हो।''

मैं क्या कहती? शरमा गई। मेरी नजरों से कुछ हैरानी और कुछ राहत का मिला-जुला भाव प्रकट होता होगा। और मैंने मन ही मन निश्चय किया था - चाहे कुछ हो जाए, आगे से अपना होमवर्क खुद ही करूंगी।

● ● ●

कुछ मारने-पीटने वाले और अपनी जिम्मेदारियों से मुंह मोड़ने वाले टीचरों का बच्चे काफी मजाक उड़ाया करते और पीठ-पीछे उनके लिए कई अपशब्दों का प्रयोग करते थे। उदाहरण के लिए मिस्टर के. के. सिन्हा का नाम कुछ बच्चों ने कूड़ा-करकट सिन्हा रख डाला था। कुछ बच्चे तो हद कर देते और उसे गाली तक देते। उल्लेखनीय है कि यह टीचर बच्चों को बहुत बुरी तरह से मारता-पीटता था और कभी-कभी गाली-गलौज भी करता था। कुछ सालों तक उन्होंने हमें अंग्रेजी या कभी-कभी सामाजिक विज्ञान पढ़ाया। पढ़ाया क्या बस रीडिंग करवायी या कभी-कभी सही मूड में हुए तो पाठ के अपने ही तरह के, अजीबोगरीब मतलब निकालकर हमारा दिल बहलाया! कई बार वह जनाब क्लास में सो जाया करते थे और फिर तो खूब

धमा-चौकड़ी मचती थी!

एक मिस डेजी थी। उनकी सख्ती और बात-बात में कभी-कभी बच्चों की बेइज्जती कर देने के कारण कुछ बच्चे तुकबंदी बनाया करते थे - 'डेज़ी वैरी लेज़ी'! इस किस्म के हल्के-फुल्के मज़ाक तो कई टीचरों के साथ जोड़ रखे थे बच्चों ने। खाली पीरियडों में टीचरों की नकल करना एक अच्छा-खासा मनोरंजन होता था। पिटने पर या सज़ा पाने पर प्रायः बच्चे अपना गुस्सा टीचरों को बुरा-भला कहकर या फिर अपनी किताब-कॉपियों पर उनके डरावने, उल्टे-सीधे चित्र बनाकर निकाला करते थे।

कुछ गालियां थी जिनका प्रयोग बच्चों के लिए कुछ टीचरों द्वारा और कुछ टीचरों के लिए (पीठ-पीछे) कुछ बच्चों द्वारा होता था। मैं भी टीचरों के मजाक उड़ाने में हिस्सा लिया करती थी। मुझे याद है कि शुरू-शुरू में मैं कुछ टीचरों द्वारा अपशब्दों का प्रयोग होते देख बहुत दुखी होती थी और कुछ बच्चे जब-जब ऐसा करते तो उन्हें टोका करती थी (टीचरों को तो मैं रोक नहीं सकती थी)। पर स्कूल की बड़ी कक्षाओं व कॉलेज तक पहुंचते-पहुंचते (मैं हैरान हूँ अपने पर) कभी-कभी मेरे मुख से भी सहज रूप में कुछ टीचरों के लिए अपशब्द निकल जाते थे। उस समय तत्काल तो मुझे अपने घृणा-गुस्से को यूं प्रकट कर राहत मिलती थी; पर बाद में कभी-कभी ग्लानि भी होती थी। ग्लानि इसलिए नहीं कि मैं उन टीचरों को उन विशेषणों के योग्य न समझती थी; बल्कि इसलिए कि मैं परेशान होती थी उस व्यवस्था से जिसने मेरे अंदर कड़वाहट भर दी थी।

झूठ बोलना एक सामान्य बात थी। यद्यपि कुछ टीचर झूठ न बोलने की नसीहत देते नहीं थकते थे; पर जनाब जरूरत पड़ने पर वे स्वयं भी झूठ बोलने में न हिचकिचाते और कई बच्चे भी बात-बात पर झूठ बोला करते थे। झूठ पर टिकी इस व्यवस्था में झूठ का सहज ही मुंह से निकल आना आश्चर्यजनक न था। टीचरों का डर बच्चों से कई

झूठ बुलवाता था और बच्चों पर अपनी सर्वोच्चता की धाक जमाने या अपनी अक्षमता को छिपाने के प्रयास कई टीचरों से झूठ बुलवाते थे।

कुछ समझदार व कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यापक-अध्यापिकाएं भी कई बार बच्चों की दुनिया को समझ पाने में इस कदर असफल रहते थे या अनभिज्ञ रहते थे कि हैरानी होती और उनपर विश्वास टूटता-सा प्रतीत होता था। ..... प्रायः हम अपनी कक्षा में कहीं पर भी बैठ जाया करते थे। पक्के दोस्तों के ग्रुप प्रायः साथ-साथ बैठा करते। कभी-कभी बदलाव के लिए हम अपने स्थान परिवर्तित भी करते थे। कभी-कभी कुछ बच्चों में कक्षा के किसी चहेते बच्चे के साथ बैठने की होड़ भी रहती थी। पर एक बार हमारे क्लास टीचर ने हमें अपने नजरिए से बिठाने का प्रबन्ध किया। उन्होंने एक-एक करके पढ़ाई में बच्चों के विभिन्न स्तरों के आधार पर उन्हें बिठाया। कई साथी इस प्रक्रिया में एक-दूसरे से अलग होकर बैठने पर मजबूर हुए। कुछ दिनों तक हम लोग उदास रहे। पर यह अनुशासन क्लास की सर्वसम्मति से हम बच्चों ने तोड़ डाला और पहले की तरह अपनी मनमर्जी से बैठने लगे। हमारे क्लास टीचर बहुमत के फैसले के आगे क्या करते!.....

अपनी एक संवेदनशील टीचर के समक्ष जब एक बार मैंने मार्मिक ढंग-से यह बात लिखित रूप में रखी कि फेल होने वाले छात्रों पर क्या बीतती थी या कैसे हम बिछड़ जाते थे; तब उनकी प्रतिक्रिया यह थी कि इस दृष्टि से तो हमने सोचा ही नहीं ..... हमारे द्वारा फेल करने का बच्चों के आपसी रिश्तों पर ..... रिश्तों का यूं टूटना..... बिछुड़ना..... इस कदर असर पड़ता है..... इतना पहले कभी महसूस नहीं हुआ था .....। (यद्यपि ठीक-ठीक शब्द तो याद नहीं, पर कुछ ऐसा ही कहा था उन्होंने)

● ● ●

अन्य कामों का बोझ

प्रायः सरकारी स्कूलों के टीचर ये रोना रोते दिखते हैं कि वे ठीक से पढ़ाएं कैसे, कैसे अपने टीचर होने की जिम्मेदारी निभाएं; जब उन पर अन्य सरकारी कामों का भारी बोझ जो लाद दिया गया है। कभी जनगणना के काम, तो कभी चुनावी ड्यूटी, कभी सर्वशिक्षा अभियान तो कभी प्लस-पोलियो अभियान की जिम्मेदारियां....। मैं ठीक-ठीक नहीं जानती कि अन्य कामों का यह बोझ वास्तव में कितना व कैसा होता है। पर कुछ सवाल इस संदर्भ में अवश्य मन में उठते रहते थे -

सरकार को इन तमाम कार्यों के लिए अपने स्कूल ही क्यों नजर आते हैं? इन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों का भविष्य क्या इतना मायने नहीं रखता कि उनके टीचरों को अन्यत्र कहीं कामों में व्यस्त रखा जा सकता है? सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की पढ़ाई क्या इतनी आसान और हल्की है कि उन्हें सारे साल-भर टीचरों के पूरे ध्यान व निर्देशन की जरूरत नहीं?.... इन अन्य कामों का बोझ क्या वाकई में बहुत अधिक है या इसे कुछ बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है? ये काम सारे साल-भर तो नहीं चलते, फिर जितना समय टीचर्स हमें दे पाते है, उसी में वे हमारे साथ न्याय क्यों नहीं करते? कुछ टीचर कैसे हमें अधिक ध्यान दे पाते हैं और अपनी जिम्मेदारी भी बखूबी निभा पाते है. ... फिर अन्य क्यों नहीं? क्या हमारी पढ़ाई सिर्फ इसलिए हल्की है और अतः अन्य कामों के साथ-साथ चलायी जा सकती है क्योंकि हम 'सरकारी' स्कूलों में पढ़ते हैं?.... आदि-आदि....। ऐसे अनगिनत प्रश्न मेरे दिमाग में उठा करते थे और पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले हमउम्र बच्चों को मिलने वाले ध्यान व विशेष सुविधाओं से, उनकी तैयारी में की जाती मेहनत से.... जब कभी तुलना करके देखती, तो मन में यह टीस और भी गहरी हो जाती थी।

● ● ●

दण्ड

आज भी कई बार सोते-सोते मैं बेचैन हो अचानक जाग उठती हूँ, जब सपनों में मुझे अपने बचपन की किसी क्लास का वह दृश्य याद आता है जिसमें टीचर बच्चों के साथ मारपीट कर रहे होते हैं। यह दृश्य काफी सामान्य था। लगभग सातवीं-आठवीं कक्षा तक तो यह दृश्य लगभग रोज ही हमारी कक्षा में घटता था - कभी-कभी एक-दो बार, तो कभी कई-कई बार!

बच्चों को कक्षा में शोर मचाने (प्रायः बोलकर अपने को किसी प्रकार अभिव्यक्त करना ही पिटने वाले बच्चे की व्यक्तिगत चेष्टा होती थी; पर जब सब या बहुत सारे बच्चे ऐसा करेंगे तो यह 'शोर' का रूप ले लेगा।), होमवर्क न करके लाने, टेस्ट में अच्छे नम्बर न ला पाने या किसी भी अन्य प्रकार से अनुशासन के नियमों को भंग करने पर सजा मिलती थी। सजा क्या होती-पिटना, हाथ ऊपर करके खड़े रहना, उठक-बैठक लगाना, कान पकड़कर खड़े रहना, मुर्गा बनना..... और कुछ क्रूर टीचरों को तो नई-नई किस्म की सजाएं या दण्ड ढूंढने में मानो मजा आता था (जैसे दो बच्चों द्वारा एक-दूसरे के कान पकड़वाकर एक-साथ उठक-बैठक लगवाना, एक-दूसरे को थप्पड़ लगाना, दोनों हाथ ऊपर ऊँचे कर उनपर भारी बैग पकड़े खड़े रहना..... आदि)। सजा या दण्ड के ये नए-नए तरीके काफी समय तक बच्चों में डर-बेचैनी भरी बातों का विषय रहते थे। सजा और मारपीट के साथ-साथ प्रायः टीचर निरन्तर डाँटते-फटकारते या दण्ड पाने वाले के लिए अपमान या कटाक्ष भरे शब्द भी कहते रहते थे।

यह सब बेहद डराने, हताश कर देने, शर्मिंदा करने, बेइज्जत महसूस कराने वाला और कभी-कभी उद्दंड या विद्रोही बना देने वाला होता था।

थप्पड़ों और स्केल या डण्डे से मारना आम बात थी। बच्चों में इसको लेकर चर्चा रहती कि किसी टीचर का डण्डा कितना ज्यादा

मोटा है। कुछ टीचरों की पहचान मूलतः उनके डण्डे से ही की जाती थी। हमारे प्राईमरी कक्षाओं के इन्चार्ज अधिकतर एक लम्बे-मोटे डण्डे के साथ ही देखे जा सकते थे। प्राईमरी कक्षाओं के एक युवा टीचर ऐसे थे, जिन्हें हमने पढ़ाते कम व मार-पीट के काम करते अधिक देखा था। वह बोलते भी बहुत शुष्क थे। वह टूटी-फूटी बैंचों या स्कूल के एक मैदान में उगी झाड़ियों-छोटे पेड़ों से लकड़ी तोड़-तोड़कर बेंत बनाते थे। बच्चों को मार-पीट कर उनसे काम निकलवाने, निर्देशों का पालन करवाने में वह उस्ताद माने जाता थे। कभी-कभी कुछ अध्यापिकाएं बच्चों को पिटवाने में उसकी मदद लेती थीं। ऐसे में वह युवा टीचर प्रायः उस बच्चे को खींचकर बाहर मैदान में ले जाते। और फिर इकट्ठी होती भीड़..... आस-पास की कक्षाओं के बच्चे भी कुछ डरे-सहमे, तो कुछ मजाक उड़ाने की दृष्टि से बाहर निकल आते और फिर धड़ाधड़ उस बच्चे को बेंत पड़ते..... खुली टांगों पर, पीछे की ओर या जान-जानकर ऐसी जगहों पर जहां ज्यादा दर्द होने की संभावना होती। बेंत/डण्डे की आवाज के साथ बच्चे का आह, उह करना या बार-बार 'सॉरी' बोलकर छोड़ देने की गुजारिश करना। यह सब बेहद क्रूर, दर्दनाक और भयंकर जान पड़ता था। पर कुछ टीचर अपना क्रोध, अपने अहंकार की तुष्टि, अपने श्रेष्ठ होने या बड़प्पन के भाव की तुष्टि, अपनी कुठाएँ, अपनी शक्ति या सत्ता का प्रदर्शन प्रायः इसी प्रकार करते थे।

> पिटने वाला बच्चा दर्द और अपमान तो सहता ही था। साथ ही कई बार बेहद हताश-परेशान हो जाता, तो कभी-कभी और अधिक उधमी या एक किस्म से विद्रोही हो जाता या चिड़चिड़ा भी हो जाता था। अधिक मासूम बच्चे पिटने पर बिलकुल मौनचौन हो जाते, अलग-थलग पड़कर, भारी मन से, किसी तरह वे वह दिन गुजारते थे।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ की पिटने वाले बच्चे ने उस पिटाई के बाद उस दिन अपने साथियों से फिर झगड़ा किया या कोई

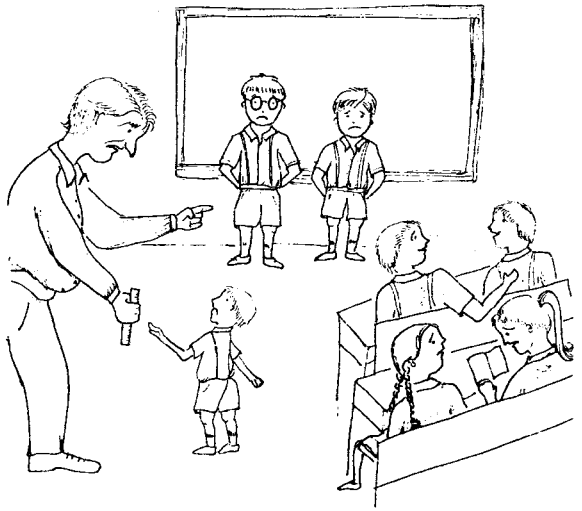

तोड़-फोड़ की।

दसवीं कक्षा में पढ़ाने वाले मिस्टर शर्मा काफी क्रूर माने जाते थे। उनका डण्डा उनकी पहचान मात्र नहीं था; बल्कि उन्हीं की तरह कुख्यात भी था। कभी-कभी अन्य कुछ टीचर बच्चों को भेजकर कुछ समय के लिए मिस्टर शर्मा से उनका डण्डा मंगाते थे।

● ● ●

अचानक कक्षा का सन्नाटा भंग हुआ और सर ने बहुत तेज आवाज करते हुए थप्पड़ों और घूंसों की बौछार रमेश पर बरसानी शुरू की। पलक झपकते ही बहुत-कुछ हो गया। रमेश के सिर को सर ने दीवार पर जोर-जोर से पटका। जैसे-ही रमेश ने दीवार से मुंह हटाकर सामने किया तो हम सब चौंक पड़े। रमेश के नाक से खून बह रहा था, उसका चेहरा सुर्ख लाल था और सूजा हुआ लग रहा था। उसका शरीर बुरी-तरह कांप रहा था। कक्षा की निर्जीव शांति अब भंग हो चुकी थी और रमेश की दशा (जो देखी न जाती थी) पर बच्चे हैरानगी, दबा हुआ गुस्सा और चिंता प्रकट कर रहे थे। रमेश को तुरन्त उसके कुछ साथी बाहर ले गए। इस बीच सर का चेहरा बेहद विकृत हो चुका था। ऐसा भी लगा मानो उनके अंदर काफी समय से क्रोध या कुठाएं जमा हो रही हों, जो आज इस क्रूर रूप में प्रकट हुई थीं।

सर अब भी गुस्से में थे और गरज कर कक्षा को शांत कराने की कोशिश कर रहे थे। 'खामोश!' वह चिंघाड़े। और फिर वह टीचर गुस्से

से दनदनाता हुआ कोने में पड़ी अपनी मेज-कुर्सी पर जा बैठा। पर अब कक्षा को 'खामोश' करा पाना उसके बस की बात न थी। कुछ बच्चों ने दबी आवाज में, कानाफूसी करते हुए तो कुछ ने ऊँची आवाज में अपना गुस्सा, हैरानी और चिंता प्रकट की। .....

रमेश की गलती क्या थी? रमेश वैसे 'तथाकथित' अनुशासन को तोड़ते तो कई बार पाया गया था। वह यहाँ-वहाँ आवारा भी फिरता था। पर हम, जो उसे बचपन से जानते थे; यकीन के साथ कह सकते थे कि वह दिल का बुरा न था। थोपा हुआ अनुशासन सहने की उसकी क्षमता कम थी और शायद यही उसकी गलती बन जाती थी।

उस दिन क्या हुआ था? सुनने में तो कई बाते आयीं, पर कुछ स्पष्ट रूप से सामने न आया। उड़ी-उड़ी बात यह भी सुनी कि रमेश ने शायद इस सर की शिकायत किसी अन्य टीचर या वाईस-प्रिंसिपल से कर दी थी। उसी का परिणाम इतने क्रूर व वीभत्स रूप में उस दिन उसे सहना पड़ा था। उस दिन कक्षा में इस घटना को लेकर काफी तनाव रहा। रमेश की मदद उसके कुछ नजदीकी मित्रों ने की और जैसे-तैसे छुट्टी तक उसकी हालत में कुछ सुधार हुआ था। वह टीचर तो अपने अहंकार की मद में चूर और प्रकट होते असंतोष पर अपना रोष प्रकट करते हुए पीरियड खत्म हो जाने के बाद चला गया। ..... कोई कुछ न कर सका और धीरे-धीरे यह घटना विस्मृति की गर्त में खो गई।....

अचानक 'दण्ड' के बारे में लिखते हुए, मुझे रमेश का वह मायूस-सा चहेरा भी याद हो आया, जो प्रायः टीचरों से पिटने के बाद उदास हो जाता था। या फिर उसका वह गुस्से से तमतमाता चेहरा, जो कभी-कभी ऐसे अवसरों पर उभरता था। रमेश शैतान तो बचपन से ही था और 'तथाकथित' अनुशासन को तोड़ना जैसे उसकी आदत बन गई थी। पर कई बार जब उसे काफी जोर से मार पड़ती, तो वह कुछ संवेदनशील बच्चों को नील पड़े अपने हाथ या हथेलियां या टांगे दिखाता-फिरता था, मानो उनसे सहानुभूति की गुहार कर रहा हो (जो उसे शायद बहुत क़म लोगों में नजर आती थी)। वह कुछ टीचरों को कई गालियां भी दिया करता था और उनके बारे में अनाप-शनाप बातें

वह अपना मन शांत कर लेता था। फिर थोड़ी देर बाद वह पुनः किसी न शैतानी में उलझा नजर आता था। कभी-कभी गलती का अहसास कराने पर, वह जैसा मासूम-सा चेहरा बनाता था; उससे मुझे भी बड़ी हँसी आती थी।....

नौवीं-दसवीं कक्षा तक आते-आते उसके इधर-उधर आवारागर्दी करने जैसी आदतें बढ़ गई थीं और सुनने में यह भी आया था कि वह कभी-कभार सिगरेट भी पीता है।

पर कई साल बाद जब मैंने उसके बारे में यह सुना कि अब भी वह आवारागर्दी करता है, नशा करता है, तो मैं चौंक उठी। शायद इस चौंकने के पीछे कहीं न कहीं बचपन का वह विश्वास रहा होगा कि वह सच में मन का बुरा नहीं है।..... क्या उसकी इस वर्तमान हालत के लिए जिम्मेदार अनेक कारकों में एक कारक वे तमाम मार-पीट, सजाओं की यातना और वे अपमान, 'बिगड़े हुए' के वे विशेषण नहीं हैं? और उन दण्डों को देने वाले वे टीचर नहीं हैं? उन टीचरों का अब उसकी जिंदगी से कोई वास्ता नहीं है; पर जो अतीत की वास्तविकता है क्या वह उसके वर्तमान को बरबाद करने में कहीं न कहीं जिम्मेदार नहीं है?

● ● ●

पता नहीं क्यों कुछ बच्चे भी मारपीट में मजा लेते थे। दूसरे बच्चों को पिटता देख उन्हें मजा आता और वे उनका मजाक भी उड़ाते थे। ऐसा सब देखना मुझे कई बार असहनीय-सा लगता था। हमारी कक्षा में पहली से नौवीं कक्षा तक एक बेहद दुबला-पतला, नाजुक-सा लड़का पढ़ता था। माँ-बाप का वह लाड़ला था और कुछ डरपोक प्रवृत्ति का भी था। उसे जब भी मार पड़ती, तब कुछ बच्चे और स्वयं मारने वाला टीचर भी खूब मजे लेते जान पड़ते थे। उसके जोर-जोर से रोने-चिल्लाने, हाथ-पैर पटकने पर कुछ बच्चे हँसते थे। मुझे व मेरे कुछ अन्य सहपाठियों को यह हँसी बेहद क्रूर लगती थी।

आठवीं-नौवीं कक्षा में हमारे संस्कृत के अध्यापक काफी कठोर

थे। कॉपियां चैक करते समय, वे प्रायः बच्चों से प्रश्न पूछते जाते थे। जरा-सी भी गलती होने पर इतनी जोर का चांटा बच्चे के गाल पर पड़ता था कि गाल काफी समय तक लाल रहता था। मारने से पूर्व वे अपनी सुविधा के लिए बच्चे के सिर को पकड़कर सुविधाजनक एंगिल में रखते थे!

प्राथमिक शाला की शुरू-शुरू की कक्षाओं में पढ़ाने वाले एक अध्यापक ऐसे थे, जो मारने से पहले पूछते थे कि तुम्हें कैसा चांटा खाना है - मीठा, नमकीन..... आदि। (मानो उनके पास चांटों का पूरा का पूरा मेन्यू कार्ड हो!)। बच्चे उनके सवालों को समझ न पाते थे। हालांकि मैंने उनका चांटा कभी नहीं खाया; फिर भी मुझे लगता है कि उनके सभी चांटे प्रायः एक जैसे ही होते थे। सभी में जोर की आवाज होती थी, सभी से गाल लाल होते और दर्द होता।

अचानक मुझे किसी कविता की चंद पक्तियां याद आ गई -

'लगा-लगा बेबस बच्चों को
मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
इसी तरह से दुखरन मास्टर
गढ़ता है आदम के सांचे!'

सबसे क्रूर तो वह लगता था जब कुछ बच्चों को सजा देने या मारने का काम स्वयं मॉनीटर या तथाकथित होशियार बच्चों से करवाया जाता था। इससे बच्चों के आपसी रिश्तों में भी कभी-कभी खटास पैदा होती थी। मारने वाला तथाकथित होशियार बच्चा पिटने वाले का नजदीकी मित्र हुआ तो उसको स्वयं काफी समय तक

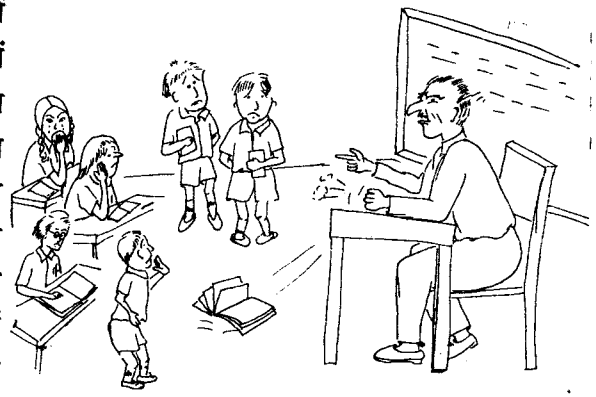

अपराध बोध रहता था। ऐसे अवसरों पर होता यह था कि कुछ तथाकथित होशियार बच्चों से कहा जाता था कि वे अनुशासन भंग करने वाले या तथाकथित कमजोर बच्चे को थप्पड़ मारें या स्केल से मारें।

एक बार हमारी कक्षा के एक छात्र को उसके बर्थडे (जन्मदिन) के दिन ही समय पर फीस जमा न करवाने (उसी दिन फीस का दिन भी था) के कारण मुर्गा बनाया गया। कुछ बच्चे जो उसके कुछ देर बाद लाइन में खड़े हो फीस जमा करा रहे थे, उन्होंने पाया कि वह मुर्गा बना सहपाठी रो रहा था क्योंकि जहाँ वह मुर्गा बना हुआ था, उसके नीचे की जमीन उसके आंसुओं से गीली हो गई थी और उसे धीरे-धीरे सुबकते भी सुना जा सकता था् फिर किसी तरह टीचर का ध्यान इस ओर दिलाकर कि आज उसका जन्मदिन है, किसी तरह उस बच्चे की सजा माफ करवायी गई।

आठवीं-नौवीं कक्षाओं में स्टूडेंट किशोरावस्था में होता है, जो बेहद संवेदनशील अवस्था है। ऐसी अवस्था में बच्चे अपनी इज्जत के प्रति खास चितिंत रहते हैं। इसी अवस्था में हमें गणित की एक बहुत कठोर अध्यापिका भी पढ़ाया करती थी। वह होमवर्क न करने, बुक न लाने, सवाल सही तरह हल न कर पाने वालों को प्रायः स्केल से मारा करती थीं। उसकी एक अजीब आदत थी कि ब्लैक बोर्ड पर कोई सवाल समझाते-समझाते अचानक अगर उसे इस बात की भनक लग जाए कि कक्षा में कोई बात कर रहा है या ठीक-से पढ़ाई में ध्यान नहीं दे रहा; तो वह वहीं पर खड़े-खड़े चॉक के छोटे-छोटे टुकड़े तेज गति से अचानक उस बच्चे पर फैंक कर मारती थी। अचानक तेजी से उसकी ओर से आता चॉक जिस बच्चे पर आकर रुकता था (अधिकतर उसका निशाना ठीक बैठता था) सभी बच्चों की निगाहें उसी स्टूडेंट की ओर हो जाती थीं। और फिर 'ए बुद्धू' के विशेषण से संबोधित करती हुई वह टीचर उस बच्चे को सबके सामने खरी-खोटी सुनाती थी। उसके पीरियड में सब जरूरत से ज्यादा ही चौकन्ने होकर बैठते और तनावग्रस्त महसूस करते थे। इसके अतिरिक्त कम अंक पाने वाले या

सवाल सही हल न कर पाने वाले बच्चे को वह सबके सामने खड़ा करती थीं और फिर जैसे छोटी कक्षाओं में होता है, सारी कक्षा को उस बच्चे के लिए 'शेम-शेम' करने को कहती थीं। वह बच्चा तो बुरी तरह अपमानित महसूस करता ही था; साथ ही इतने बड़े हो चुके उसके कई सहपाठी तक ऐसा कहते-कहते शर्म में डूबते जाते थे।

एक टीचर जिसने हमें शायद छठी या सातवीं में पढ़ाया था, नई-नई तरह की सजाएं देने में रूचि लेते थे। जैसे हाथों को ऊपर उठाकर उन पर कोई भारी बोझ रखकर दौड़ लगवाना या फिर मुर्गा बनाकर चलने को कहना या एक-दूसरे के कान पकड़कर उठक-बैठक लगवाना आदि। सजाएं देते हुए उसके चेहरे पर बेहद क्रूरता, कठोरता साफ झलकती थी।

जब ग्यारहवीं कक्षा में मैने स्कूल बदल डाला और केवल लड़कियों के एक सरकारी स्कूल में गई; तो वहां की एक कठोर टीचर लड़कियों को कभी-कभी 'मुर्गी' बनाया करती थी। इस स्त्रीलिंग नाम से कुछ लड़कियां मजाक बनाया करती थीं।

जब मैं पहली कक्षा में थी तो हमारी एक काफी बुजुर्ग-सी टीचर बच्चों के कान खींचने व मारने के साथ-साथ छोटे-छोटे बच्चों को कभी-कभी, स्कूल की आया से कहकर, बाथरूम में बंद करवाया करती थीं। सरकारी स्कूलों में प्रायः बाथरूम वैसे भी काफी गन्दे हुआ करते हैं। मुझे ऐसी सजा कभी नहीं मिली थी; पर फिर भी मैं यह कल्पना कर सकती हूँ कि वहां कुछ समय भी बंद रहना कितना घुटनभरा व अपमानजनक अनुभव होता होगा!

सजा के तौर पर स्कूल के किसी क्षेत्र का कूड़ा-करकट उठाने को भी बच्चों से कहा जाता था। इससे सफाई के प्रति, मुझे लगता है कि, एक प्रकार की घृणा पैदा होती है। सफाई का काम गंदा और बोझिल लगने लगता है।

किताब आदि न लाने, होमवर्क न करने या कुछ याद न करके

आने पर कक्षा से बाहर निकाल देना; प्रायः अन्य सब सजाओं के मुकाबले काफी हल्की-सी सजा मानी जाती थी। संवेदनशील बच्चे तो इसे भी काफी गहराई तक महसूस करते थे। पर कुछ चंचल बच्चे इस सजा की मानो इंतजार में रहते थे। उन्हें तो घूमने-फिरने का मौका मिल जाता था!

अपने सहपाठी को सजा पाते देख अन्य बच्चे डर-सहम जाते थे। कठोर दण्डों से पूरी कक्षा दहशत में आ जाती थी। पर कुछ बच्चे इस सबको हल्का भी लेते थे, उन्हें अधिक चिंता इसी की रहती कि उन्हें खुद को सजा न मिले। कभी-कभी कुछ बच्चे तो सजा पाने वाले की चुगली कर, उसकी सजा बढ़वाते भी थे और कुछ बच्चे सजा पा रहे बच्चे का मजाक भी उड़ाते थे!

मैं दण्ड से हमेशा डरती थी और यथासम्भव टीचरों की अपेक्षाओं को पूरा करने का प्रयास करती थी। पर कक्षा में कुछ सहपाठियों को दण्ड मिलता देख मैं काफी उदास, निराश, कभी-कभी चिड़चिड़ी तो कभी-कभी हताश भी हो जाती थी। स्वभाव से ही कुछ डरपोक होने के कारण 'दण्ड' या 'सजा' का भय मेरे मन में एक खौफ की भांति सदा रहा। आज तक मैं अपने सपनों में कभी-कभी अपने को उस किस्म की स्थिति में घिरा पाती हूँ, जैसे बचपन में मैने अपनी कक्षा में दण्ड के दृश्य देखे थे। ऐसे सपने मुझे बेचैन कर देते हैं।

जब मैं प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ती थी तब की मुझे याद है कि कभी-कभी मैं खेल-खेल में स्वयं टीचर बनकर और अपने खिलौनों या कभी कभी गमलों को भी झूठमूठ के स्टूडेंट बना लिया करती थी। इस खेल में मैं उन्हें स्केल या किसी डण्डी से मारा करती थी और डाँटा करती थी! (बिल्कुल उसी तरह जैसा मैं अपनी कक्षा में होता देखती थी)। तब मैं छोटी बच्ची थी। पर आज भी अपनी उन दिनों की बेवकूफी पर मुझे हैरानी होती है। इस प्रकार का खेल खेलते मैंने अन्य कुछ छोटे बच्चों को भी देखा है। सुना है और पढ़ा भी है कि बच्चे एक खास उम्र तक बड़ों की काफी नकल किया करते हैं। पर कभी-कभी सोचती हूँ

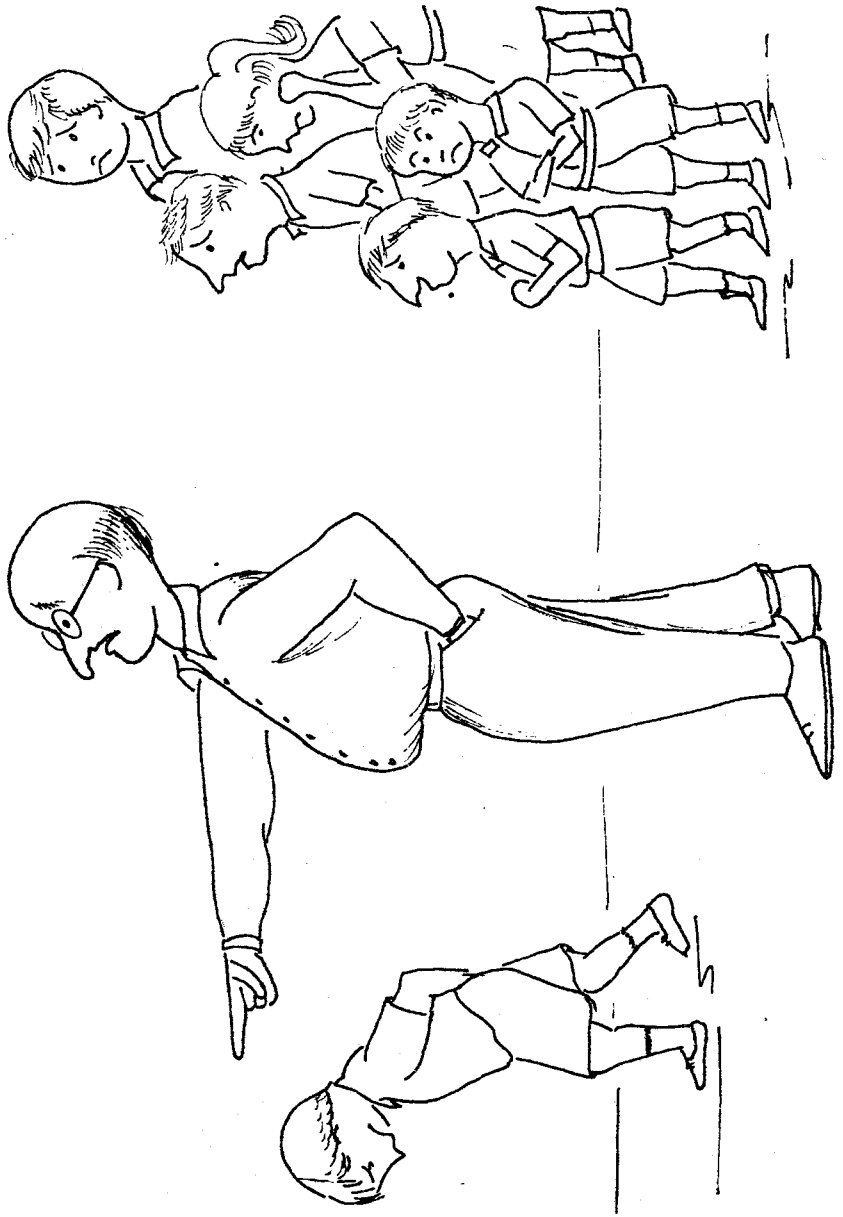

कि जो बात बालमन को बेचैन करती है, डराती है, खौफजनक लगती है; उसे भी वे नकल करके देखते हैं या फिर यह अपने मन की भड़ास निकालने का एक तरीका है!

डाँटते-फटकारते हुए कुछ टीचर्स कभी-कभी तथाकथित 'कमजोर' बच्चों की तुलना तथाकथित 'होशियार' बच्चों से करते थे (या किसी एक कक्षा को फटकारते हुए दूसरी कक्षा का उदाहरण देते हुए उस दूसरी कक्षा को उनके मुकाबले में श्रेष्ठ बताना)। इससे यह अंतर उन दोनों प्रकार के बच्चों के मन-मस्तिष्क में ज्यादा गहरा होता जाता था। आपसी ईर्ष्या-द्वेष, हीन भावना और अहंकार भावना को इससे काफी बढ़ावा मिलता था।

यह काफी सामान्य था कि पुरुष अध्यापक लड़कियों को या तो नहीं पीटते थे या अगर पीटें तो भी ज्यादा नहीं पीटते थे। वे लड़कियों के गलती करने पर उन्हें डाँटते-फटकारते, सजा देते, अपमानजनक शब्द कहते या हल्का-सा मारते। कुछ लड़के इस कारण लड़कियों से कभी-कभी चिढ़ते भी थे। पर कुछ अध्यापक लड़कियों व लड़कों को समान रूप से दण्डित करते। विशेषकर अध्यापिकाएं प्रायः लड़के-लडकियों को समान रूप से ही दण्डित करती थीं।

● ● ●

किताब न लाने वालों को खड़ा करके तड़ाक-तड़ाक डण्डे पड़ रहे थे मैंने कुछ निश्चय कर रखा था। मेरी एक सहेली, जो मेरे निकट बैठी थी, वह आज किताब लाना भूल गई थी। अभी थोड़ी-ही देर पहले हम दोनों में बहस हो गई थी। मैं अपनी किताब उसे देकर स्वयं मार खाने को तैयार थी; पर वह यह सुझाव मानने से इंकार कर चुकी थी। बहस करने पर वह रूठ चुकी थी। समझाने-मनाने का अब समय न बचा था। जब वह टीचर एकदम नजदीक आ पहुँचा तो पलक झपकते ही मैंने अपनी किताब अपनी सहेली के सामने रख दी और मार खाने के लिए स्वयं उठ खड़ी हुई। वह टीचर भी अब डण्डा लिए हमारे डेस्क

पर मौजूद था।

तभी मेरी वह सहेली भी उठ खड़ी हुई और उसने टीचर से सच-सच कह दिया कि सामने पड़ी वह किताब मेरी है और मैंने ही उसके सामने रख दी है। मैं अपने झूठ पर कायम रही और मार खाने के लिए सामने हाथ फैला दिए। वह टीचर एक बार कुछ क्रूर तरीके से मुस्कराया और गरजा, ''बोलो किसकी किताब है यह।'' हममें से कोई कुछ न बोला और इससे पहले की कोई हल निकल पाता, हम दोनों सहेलियों की हथेलियों पर तड़ाक-तड़ाक दो-दो डण्डे पड़े। उस टीचर ने हम दोनों को गुस्से से देखा, मानो हम उसके 'कीमती समय' के कुछ क्षण बरबाद करने के गुनहगार हों! फिर वह आगे बढ़ गया। हम दोनों लाल-लाल फूली हुई हथेलियां लिए चुपचाप बैठ गए। कुछ समय तक हमारे बीच अनबन रही। फिर धीरे-धीरे हम सामान्य हो गए। यह किताब न ला पाने की सजा थी या दोस्ती की सजा थी! कौन जाने? (!)

● ● ●

मार-पीट सहने वाले कुछ बच्चों पर पिटने का एक असर कभी-कभी यह भी पड़ता है कि वे हकलाने लगते हैं (विशेषकर तब जब वे रोते-रोते डर से अपने को नियंत्रित कर सुबकते हैं, चुप होने की कोशिश करते है)। बड़े हो जाने पर भी कभी-कभी वे कुछ अटक-अटक कर या रुक-रुककर बात करते हैं।

दण्ड के रूप में जुर्माना भी हो सकता था। यहां तक की कॉलेज तक में एक लेक्चरार ने ऐसी जुर्माने की व्यवस्था कर रखी थी। एक बार इस टीचर से 'दण्ड' की अवधारणा पर मेरी थोड़ी बहस हो गई। तब उस टीचर ने यह विचार रखा कि यदि 'दण्ड' या 'सजा' नहीं रखेंगे तो पढ़ेगा कौन? उनका मत था कि भय या डर पढ़ाई करवाता है! शायद सही कह रही थीं वो। डर वास्तविकता में पढ़ाई का एक महत्त्वपूर्ण आधार बना हुआ है!

दण्ड या सजा के बजाए बच्चों को समझा-बुझाकर, उनकी बेहतरी के लिए उनमें सुधार लाने के प्रयास करने संबंधी यादगार बातें

बहुत कम हैं। एक टीचर इस प्रकार के सीमित प्रयास कभी-कभी करते थे। कभी-कभी उनका माहौल पर दुख प्रकट करना कई बच्चों को छू जाता था और तब कुछ बच्चे बदलते भी थे। कभी-कभी वह टीचर कहानियों-किस्सों, कविताओं के माध्यम से अपनी बात अप्रत्यक्ष रूप में बच्चों तक पहुँचाया करते थे। कई बच्चों पर इसका सशक्त असर पड़ता था। जब कभी वे बड़े भाषणनुमा अंदाज में कुछ समझाते तो उसका कम ही असर पड़ता था। कई बच्चे उनका आदर करते थे, उनपर विश्वास करते थे। पर कुल मिलाकर अन्यायपूर्ण व्यवस्था के वह निष्ठावान् सेवक थे। इससे उनके व्यक्तित्व में जो दोहरापन आता था, मुझे वह बहुत चुभता था। जब कभी वह किसी बच्चे को डाँटते-फटकारते, मारते या सजा देते; तब उनपर बच्चों का विश्वास कमजोर होता था, टूटता था।

● ● ●

'गुड आफ्टरनून'

नौवीं कक्षा की शुरू-शुरू की एक घटना याद है मुझे। उस दिन कक्षा में कुछ पीरियड लगातार खाली थे। आरम्भ में मॉनिटर ने कक्षा में अनुशासन बनाए रखने के प्रयास किए थे, पर धीरे-धीरे माहौल ढीला हो चला था।... और बच्चे आपस में खुलकर हँसने-बतियाने में रम गए थे। कक्षा का दरवाजा हमने बंद कर रखा था, पर कुण्डी खुली थी।

बातों-बातों में समय गुजरता गया और हम यह भूल-सा गए कि इस समय कौन-सा पीरियड चल रहा होगा। दरअसल हमें इस बात का अहसास ही न था कि कब हमारे अंतिम पीरियड यानि उस दिन के अंग्रेजी विषय के पीरियड का समय हो गया था और शायद उसकी सूचक घण्टी भी बज चुकी थी। अंग्रेजी की उस समय की हमारी टीचर बेहद कठोर व अनुशासनप्रिय थीं।

पर आज हम इतने मस्त थे कि हमें इसका ख्याल ही न रहा था। कक्षा के किसी कोने में चुटकलों-हँसी-मजाक का दौर चल रहा था, तो कहीं से हल्का-सा गीत सुनायी पड़ रहा था, कुछ बच्चे गम्भीरता से

अपनी निजी समस्याओं के बारे में एक-दूसरे से चर्चा कर रहे थे, तो कुछ अन्य पढ़ाई के बोझ, पाठ्यक्रम के अंतहीन विस्तार या किसी कठिन विषय पर अपनी टीका-टिप्पणी कर रहे थे। कहीं फिल्मों का जिक्र हो रहा था, तो कहीं कागज पर कोई खेल चल रहा था। संक्षेप में कहें तो बच्चे मस्त थे और समय को भूल चुके थे। कुछ बच्चे अपनी सीटें छोड़ अन्य किसी की सीटों के आस-पास घेरा बनाकर भी खड़े थे। कुछ बच्चे यूँ ही बैठे सुस्ता रहे थे और छुट्टी होने का इंतजार कर रहे थे।

अचानक बहुत तेज आवाज के साथ हमारी कक्षा का दरवाजा जोर से खुला और गुस्से से तमतमाया चेहरा लिए, आँधी की तेजी से हमारी अंग्रेजी विषय की अध्यापिका ने कक्षा में प्रवेश किया! सम्भवत: हमारी आवाजें बंद दरवाजे को पार कर आस-पास के गलियारे में गूंज रही होंगी या फिर शायद दरवाजा थोड़ा-सा खुला रह गया होगा। पता नहीं क्या बात थी, पर हमारी टीचर के चेहरे के भाव यह साफ बता रहे थे कि हमारे शोर व अनुशासनहीनता से वह बेहद खफा हैं। इधर बच्चे काफी समय से इतने मस्त थे कि अचानक दरवाजा खुलने व टीचर के कक्षा में प्रवेश करने से उनमें से कुछ भौचक्के खड़े ताकते रह गए। कुछ गिरते-पड़ते अपनी सीटों की ओर भागे, तो कुछ सम्भल कर खड़े भी न हो सके। सारी कक्षा को मानो अचानक सांप सूंघ गया हो। किसी तरह गिरते-सम्भलते बच्चे खड़े हुए। पर अचानक सहमी हुई कक्षा से कुछ थाड़े-से बच्चों ने ही संभल कर 'गुड आफ्टरनून' कह पाने की हिम्मत जुटाई, वह भी दबी आवाज में।

इस फीके अभिवादन और अफरा-तफरी में सम्भलती कक्षा को देख टीचर का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुँच गया और तुरन्त उन्होंने ऊंची आवाज में फटकारना शुरू कर दिया। क्या बदतमीज क्लास है यह, तुम्हारी क्लास का शोर कॉरिडोर के अंतिम छोर से सुनती हुई आ रहीं हूँ, बेवकूफ-नालायक बच्चे, ठीक-से 'गुड आफ्टरनून' भी नहीं कह सकते..... आदि-आदि न जाने क्या-क्या मैडम गुस्से में लगातार बोलती रही।

कक्षा में मरघट-सी चुप्पी छा गई थी। हैरान-परेशान, हड़बड़ी में संभले बच्चों ने अब मिलकर पुन: 'गुड आफ्टरनून' कहने की हिम्मत जुटायी। पर अभी भी उनकी आवाज रूंधी हुई ही निकली, डरी, सहमी-सी आवाज!

डाँटते हुए टीचर बैठ गई। बच्चे डरे-सहमे सर झुकाए उसके सामने खड़े रहे। "अब तुम सब बस 'गुड आफ्टरनून' ही बोलो। बिना रूके।" उन्होंने कड़े शब्दों में आदेश दिया। और फिर..... अगले लगभग पन्द्रह मिनट तक हम इस आदेश का पालन करते रहे। सारी कक्षा सर झुकाए खड़ी थी और 'गुड आफ्टरनून' का जाप करती जा रही थी। बीच में अगर कोई रूक जाता या अपनी घड़ी की ओर देखता, तो टीचर उसे डाँटती थी। ये पन्द्रह मिनट मानो कई घण्टों के समान लग रहे थे। बीच-बीच में टीचर के कटाक्ष माहौल को असहनीय बना रहे थे।

आखिर छुट्टी की घण्टी बजी तो सबने मानो राहत की सांस ली और 'गुड आफ्टरनून' का स्वर अब धीमा हो चला था। सहज ही कुछ बच्चों का हाथ अपने बैग की ओर गया।

''आवाज धीमी क्यों हो गई। बोलते रहो। आज कोई जरूरत नहीं है घर जाने की।''-कड़े स्वर में टीचर ने आदेश दिया। अब सारे स्कूल से छुट्टी के समय का उल्लास-भरा शोरगुल सुनाई दे रहा था। पर हमें खड़े-खड़े 'गुड आफ्टरनून' के वे कर्कश-से जान पड़ रहे शब्दों को दोहराते रहना था। पता नहीं क्या मिल रहा था उस टीचर को, हमें यह सजा देकर? क्या वाकई में यह हमारी 'असभ्यता' का दण्ड था या फिर उस टीचर के अहंकार की तुष्टि! उन्हें शायद घर जाने की जल्दी न थी, पर हमें तो थी और जरूरत भी थी। ''किसने देखी घड़ी, बोलो क्या तुमने देखी अपनी घड़ी?- डपटते हुए टीचर ने एक बच्चे की ओर इशारा किया।.....

दूसरी कक्षाओं के हमारे कुछ साथियों ने थोड़े-से खुले दरवाजे से झांककर अंदर देखा, कुछ ने बाहर इंतजार किया, पर हमारी सजा खत्म न होते देख वे चले गए। स्कूल-बस से आने वाले बच्चे बेहद

बेचैन हो चले थे। स्कूल-बस तो इस 'गुड आफ्टरनून' के लिए न रूकेगी! खैर, लगभग छह-सात मिनट गुजरे होंगे कि टीचर को बस से घर जाने वालों का ख्याल आया और तब उसने उन्हें भागकर जाने का आदेश दिया।

पता नहीं हमारी टीचर का 'आफ्टरनून' वाकई में 'गुड' बीत रहा था या नहीं। शायद बीत रहा हो क्योंकि उनके अंहकार और क्रोध की तुष्टि तो हो ही रही थी। हम बच्चों का 'आफ्टरनून' तो काफी 'बैड' बीत रहा था। आखिर आगे के लगभग पूरे पंद्रह मिनट और बीत गए और तब जाकर हमें इससे मुक्ति मिली। अपना पर्स उठाकर अहंकार भाव से तनती हुई वह टीचर कक्षा से चली गई।

बातों का हमारे पास समय न था। डरी-सहमी फुसफुसाहट फिर भी शुरू हो गई थी। और उसी के साथ हम अपने-अपने बैग संभालते बाहर की ओर भागे। बाहर अभी तक खड़े एक-दो दोस्तों को समझाया-मनाया भी। भारी कदमों से दौड़ते हुए हमने सुनसान मैदान को पार किया और जैसे-तैसे स्कूल के गेट से बाहर निकले। अब हम आजाद पंछी थे! देर से घर पहुँचने का, वापिस लौटने के माध्यमों व साथियों के छूट जाने का तनाव भी था। इस बीते समय की भारी याद को अपने मन से पोंछने में भी अभी वक्त लगना था। पर निस्संदेह अब जो 'आफ्टरनून' (दोपहर) थी, वह पिछले लगभग आधे घण्टे के 'आफ्टरनून' से ज्यादा 'गुड' लग रही थी और सूर्य की तेज गर्मी भी राहत दे रही थी।

● ● ●

यूँ होती थी पढ़ाई

मुझे याद है वे लम्बे-लम्बे (ऐसा महसूस होता था) पीरियड, वह उबाऊ-सा माहौल, जब बस सामने कोई टीचर बैठा है..... अपने रजिस्टर में कुछ भरने-लिखने में लीन या फिर बच्चों की कॉपियां यांत्रिक ढंग-से, बिना ठीक से पढ़े, चैक करते हुए और अपने स्थान पर खड़ा या सामने आकर खड़ा हुआ कोई बच्चा..... पुस्तक के किसी पाठ को ऊँचे स्वर में पढ़ता हुआ..... रीडिंग करता हुआ। वह उबाऊ-उदासीन-सी पढ़ाई, जिसमें समझ कुछ नहीं आता था। बस इसी बात का ध्यान रखना होता था कि यह याद रखें कि वह रीडिंग करता बच्चा किस पंक्ति तक पहुँचा है। कई बार तो सुविधा के लिए हम अपनी उंगली या पैंसिल उस बच्चे की रीडिंग की स्पीड में बुक पर लिखे काले अक्षरों (जो वाकई में कई बार भैंस बराबर ही होते थे!) पर फिराते रहते थे ताकि जब अचानक वह बच्चा रुके या टीचर कभी टोके अथवा घण्टी बज जाए तो आगे के लिए डाँट से बचने के लिए; हमें यह पता रहे कि रीडिंग कहाँ तक हुई है, कहाँ पर आकर रुकी है।

कई बच्चे और कभी-कभी तो अधिकांश बच्चे रीडिंग के दौरान मन ही मन कोई और ही खिचड़ी पका रहे होते थे। कुछ बच्चे तो साथ बैठे साथियों की दया की प्रवृत्ति से निश्चिंत हो (कि डाँट की नौबत आने से पूर्व ही वे उन्हें रीडिंग कहाँ तक पहुँची है, यह बता देंगे) आराम से अपने अधूरे होमवर्क पूरे करने, चित्र आदि बनाने या ब्लेड अथवा चाक आदि को डेस्क पर घिसने में व्यस्त हो जाते थे।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि बीच में अचानक अगर टीचर का मूड हुआ और उसने किसी पंक्ति का अर्थ पूछ लिया; तो ऐसे में हड़बड़ा कर बच्चे कुछ का कुछ बोल बैठते। या फिर एक-दूसरे की शक्लें ताकते रहने के सिवा उनके पास और कोई चारा न रह जाता था। कभी-कभी बीच में किसी बच्चे को कानाफूसी करते सुन या किसी अन्य काम में व्यस्त देख टीचर उस बच्चे से कहाँ तक रीडिंग हुई है यह पूछ लेते और सही स्थान का उसे पता न होने पर उसे डाँटा या पीटा

करते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि अगले दिन उसी पीरियड में अगर अधिकांश बच्चे रीडिंग अब कहाँ से शुरू होनी है- यह न बता पाते, तो फिर तो सारी क्लास को ही फटकार पड़ती। अतः यह दृश्य सामान्य था कि किसी पीरियड की घण्टी बजते ही, टीचर के आने से पूर्व ही, कुछ बच्चे आसपास से रीडिंग शुरू करने का सही-सही स्थान पूछते या उसे निश्चित करते दिखते। रीडिंग पढ़ाई का सबसे सामान्य तरीका था। कभी-कभी खास कृपा हुई तो उससे पूर्व या बाद में थोड़ा-सा समझाना। ... फिर क्लास का काम, होमवर्क आदि जाँचना कॉपिया चैक करना, प्रश्न पूछना, टेस्ट लेना... आदि का सिलसिला चलता था। मुझे याद है

इस किस्म की पढाई में कुछ भी समझ नहीं बनती थी और सरल-रोचक पाठ भी इम्तिहानों के समय उबाऊ या डरावने लगने लगते थे।

उस पर से रोज का ढेर-सारा होमवर्क... जिसे पूरा करते-करते हमारे हाथ थक जाते थे। अधिकांश होमवर्क में होता क्या था? गणित के ढेरों सवाल हल करना, किसी अन्य पुस्तक से कुछ देखकर उतारना- कभी किसी किताब से, कभी गाइड से, कभी कुंजी से तो कभी मांगकर लायी गई किसी साथी की कॉपी से उतारना। धीरे-धीरे, जब बड़ी कक्षाओं तक भी होमवर्क का यह बोझ चलता ही रहा; तब मैं कभी-कभी कल्पना करती थी कि क्या ही अच्छा हो अगर हम इस सबको देखकर लिखने के बजाए, फोटो कॉपी ही करा लें या फिर टीचर पुस्तक या गाइड पर ही सही-गलत के निशान लगाकर अपने को क्यों न संतुष्ट कर लें। एकाध बार किसी ने होमवर्क की अधिकता की कुछ शिकायत करने की धृष्टता की तो उन्हें सुनने को मिला "लिखोगे नहीं तो याद कैसे होगा?".... बात तो यह ठीक थी, लिख-लिख कर ही तो याद होगा। याद होगा मतलब रटा जाएगा, रटा होगा तभी तो पेपर में उगला जाएगा और अगर इम्तिहानों में उगला जाएगा तभी तो नम्बर मिलेंगे! नम्बर ही तो सबकुछ थे!... होमवर्क न करके लाने वाले बच्चों के साथ डाँट, मार, बेइज्जती का सिलसिला चलता था और यह प्रायः कक्षा का सामान्य दृश्य होता।

मुझे याद है एक बार बारहवीं कक्षा में मैंने राजनीति विज्ञान की अपनी एक टीचर के अत्याधिक होमवर्क देने का कुछ विरोध करने का साहस किया था। मैं अपने अभिभावकों से होमवर्क कम दिए जाने संबंधी बात लिखवा कर ले गई और नम्रतापूर्वक उस टीचर के समक्ष यह मुद्दा उठाया था। मेरी यह धृष्टता (!) उस टीचर से सहन न हुई और उन्होंने मेरी कॉपी उठाकर पटक दी थी और उसके बाद से मेरे प्रति कटु व्यवहार रखा या जानबूझकर मेरी उपेक्षा की।

सच तो यह है कि लिख-लिखकर कई बार हाथ दुख जाते थे। मैं जरूरत से ज्यादा ईमानदार रहने की कोशिश करती थी और कई बार एक-एक अक्षर तक लिखा करती थी। कई बच्चे यूँ ही थोड़ा-बहुत

खुला-खुला लिखकर काम चला लिया करते थे। मेरे जैसे कुछ अन्य बच्चे भी थे और वास्तव में हमें ही इस बात का अहसास हो पाता था कि कई बार होमवर्क असम्भव हद तक अधिक होता था। ..... लिखते-लिखते देर रात हो जाती थी, आँखे मिचमिचाने लगती थीं और सबसे कष्टजनक तो था उंगलियों का बुरी तरह से अकड़ जाना, जो कई बार बहुत दर्द करता था। हम वास्तव में जरूरत से ज्यादा ईमानदार बने रहकर मूर्ख ही बने क्योंकि इस मेहनत का कोई फायदा नहीं होता था। बल्कि कभी-कभी तो हम अन्य सहपाठियों की नाराजगी या मजाक का पात्र ही बनते थे।

होमवर्क के प्रति जरूरत से ज्यादा निष्ठा का मेरे को एक अन्य नुकसान भी थोड़ा बड़े होने पर नजर आया। बड़ी कक्षाओं में या यहाँ तक कि कॉलेज तक में कई बार नोटस् बनाने की मुझे इतनी धुन रहती थी कि मैं नोटस् का वास्तविक औचित्य ही समाप्त कर डालती थी और उन्हें भी उसी होमवर्क की तरह कर डालती थी (यहाँ-वहाँ से कई अनुच्छेद जुटाकर बस लिखते जाना..... लिखते जाना)। परीक्षाओं के समय यही नोट्स मेरी पढ़ाई को सरल बनाने के स्थान पर काम को बढ़ा डालते थे। पर क्या करूँ बचपन से आदत जो डल गई थी! ...

जैसे-जैसे हम बड़ी कक्षाओं में आते गए थे, समझने-समझाने को भी पढ़ाई में किसी न किसी रूप में शामिल करना आवश्यक होता गया। पर यह समझना-समझाना कई बार महज औपचारिक व सतही ही रहता था। हमारे कुछ टीचर तो ऐसे थे जो समझाने के नाम पर काम को सरल करना जानते थे..... बस पाठ के शुरू में कुछ बताया, फिर एकाध पन्ने पलट कर कोई एक पैराग्राफ समझाया, किसी एक-दो पैराग्राफ पर निशान लगवाए, पाठ के अंत में लच्छेदार भाषा में, घुमा-फिराकर अपनी बात दोहरायी और सीधा पहुँच गए प्रश्न-उत्तरों पर.....। कभी-कभी ऐसे कुछ टीचर महज औपचारिक रूप से सबकुछ खत्म होने पर यह पूछ लिया करते थे कि क्यों भई समझ आया न। उनसे समझाने की भला और क्या अपेक्षा की जाती। कुछ पूछने पर भी वे वही दो-चार बातें दोहरा देते या पूछा कुछ जाए और लगे समझाने

कुछ और ही। दरअसल इस प्रकार की पढ़ाई में कभी-कभी यह पता ही नहीं चलता था कि कब पाठ खत्म हो गया और फिर प्रश्न-उत्तरों के लिए हमें गाइड आदि पर ही निर्भर रहना पड़ता था। कभी हमारी कक्षा में किसी बच्चे की इतनी हिम्मत न हुई कि ऐसे टीचर को बता सके कि दरअसल हमें तो कुछ भी समझ नहीं आया। (पीठ पीछे बच्चे अवश्य यह तथ्य स्वीकारा करते थे)

पर कुछ टीचर वास्तव में काफी अच्छे ढंग से पढ़ाया करते थे। काफी देर लगाकर, धैर्य पूर्वक समझाया करते और बहुत मेहनत करते थे। मुझे याद है अंग्रेजी साहित्य की एक मैडम हमें कितनी लगन से, कितने रोचक व प्रभावशाली ढंग से पढ़ाया करती थीं और गणित के एक अन्य अध्यापक भी कितनी लगन से सवालों को समझाने का प्रयास करते थे। बी.एड. की ट्रेनिंग पर आयी कुछ टीचरें भी काफी मेहनत करती थीं और अच्छी तरह समझाया करती थीं। पर ऐसे कुछ उदाहरण अपवाद ही थे या कम ही होते थे। अधिकांश पढ़ाई के तरीके नीरस होते थे और अरुचि ही पैदा करते थे।

> नए-नए प्रश्न उठाने, उनके हल खोजने समझने की इच्छाएं व क्षमताएं ज्यादा विकसित नहीं हो पाती थीं। स्टूडेंट बंधे-बंधाए परीक्षा-केन्द्रित पैटर्न के आदी हो जाते थे और उनमें जिज्ञासा का अभाव, अरूचि व उदासीनता की प्रवृत्ति आम पायी जाती।

कुछ टीचर जो मेहनत व लगन से समझा-समझाकर पढ़ाते थे; वे उतनी ही अपेक्षाएं फिर बच्चों से रखते थे। और उनकी अपेक्षाएं पूरी न हो रही हों तो वे उतने ही सख्त हो जाते थे। फिर उनसे पढ़ते समय कई बार डर ज्यादा हावी रहता था, न कि पाठ की रोचकता। कुछ बच्चों को तो यह चिंता हमेशा ही लगी रहती थी (जो अच्छे-खासे तनाव की जनक होती थी) कि कैसे उनकी अंतहीन अपेक्षाओं पर वे खरा उतरते रहें। बच्चों में भेदभाव करने, डांटने-मारने या सजा देने में ऐसे टीचर भी पीछे न रहते थे और उनसे सजा पाना कई बार काफी शर्मनाक हो जाता था, दम घुटने लगता था और ऐसे टीचर करीब आकर

भी दूर जाते से लगते थे। खैर, जो भी हो अधिकांश बच्चे मन ही मन उनका कुछ सम्मान तो करते ही थे। कुछ बच्चे तो निरन्तर इसी पशोपेश में रहते कि किस प्रकार उनकी अपेक्षाओं पर खरा उतरते रहें।

> अपनी जिम्मेदारी ईमानदारी व लगन से निभा पाना ही उन्हें बच्चों की निगाहों में ऊँचा उठा देता था।

दसवीं कक्षा में पढ़ाने वाले मिस्टर वधवा गणित के टीचर थे और गणित की समस्याओं को बड़े धैर्य-से समझाते थे। उनकी कोशिश तो यही रहती की हर बच्चे को समझ आए। बच्चों को निरन्तर मेहनत करने को प्रेरित करते थे। पर डाँटते भी काफी थे और कई बार तो मारते भी थे। गुस्सा आने पर तीखे व्यंग्य भी किया करते थे। कभी-कभी सर अच्छे मूड में होते और तब हमें कोई बात समझाने के लिए किसी किस्से-कहानी या अपनी स्वयं की लिखी किसी कविता का प्रयोग भी वह करते थे। तब कक्षा पर काफी असर पड़ता था। पर जब कभी उन्हें गुस्सा आ जाए या उनकी आशा के अनुरूप कोई काम न होने से वह खिन्न हों; तो बस समझो किसी की खैर नहीं!

मैडम पटेल अंग्रेजी साहित्य बेहद प्रभावपूर्ण व रोचक ढंग से पढ़ाती थीं। कई बार कक्षा मंत्रमुग्ध हो उनकी बात समझती थी। बहुत मेहनत करती थीं वह पढ़ाने व समझाने में। और उतनी ही या उससे भी अधिक मेहनत चाहती थीं वह बच्चों से उनकी कॉपियों पर, इम्तिहान की उत्तर-पुस्तिकाओं पर या लगभग रोजाना पूछे जाने वाले प्रश्नों के उत्तरों को देते समय। अपेक्षाएं पूरी न होने पर वे डाँटा करती थीं, ताने दिया करतीं और कभी-कभी मारा भी करती थीं। पर मन ही मन कई बच्चे उनका सम्मान करते थे।

मिस्टर कुमार बायोलॉजी काफी रोचक ढंग से पढ़ाते। और कई बार धैर्य-से, सरल भाषा में एक-एक लाइन तक समझाते थे।

मिस आर्य बी.एड. की ट्रेनिंग पर हमें सामाजिक विज्ञान पढ़ाने आयी थीं और कुछ ही दिनों में उन्होंने हमारा मन जीत लिया था। वह बेहद रोचक ढंग-से समझाती थीं और पाठ को हमारे रोजमर्रा के अनुभवों से जोड़कर भी समझाती थीं। वे प्रायः डाँटती भी न थीं और

थोड़े-ही समय में वह बच्चों की चहेती बन गई थीं। पर कुछ समय बाद वह चली गईं। उनकी ट्रेनिंग समाप्त हो गई थी। काफी समय बीत जाने पर मैंने एक-दो बार, उन्हें हमारे घर के निकट के एक पब्लिक स्कूल में जाते देखा। शायद उन्होंने वहां नौकरी कर ली थी। एक बार पास से निकलने पर मैं उन्हें देख मुस्कायी, पर उन्होंने शायद मुझे नहीं पहचाना और अपने लम्बे-लम्बे कदम भरती हुईं वह उस पब्लिक स्कूल की इमारत में दाखिल हो गईं...।

ऐसे कुछ ही उदाहरण थे जब पढ़ना हमें समझ आया या रोचक लगा। पर इन सबमें भी हमारी जिज्ञासा को बढ़ाने, हमें स्वयं प्रश्न उठाने के लिए विशेष प्रेरित कभी किया गया हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। अधिकतर पढ़ाई का यही ढंग रहा कि टीचर पढ़ाएगा और बच्चे पढ़ेंगे-सुनेंगे-समझेंगे। पढ़ाई सामूहिक क्रिया, जिसमें दोनों ओर से समान भागीदारी हो, शायद ही कभी बनी हो और यह बड़े होने पर मेरे लिए महज एक सपना ही रहा। कॉलेज में मैंने प्रश्न उठाने, पढ़े हुए पर अपने विचार व्यक्त करने की कुछ पहल की थी। पर मेरी कक्षा की अन्य अधिकांश छात्राएं इस ओर से उदासीन थीं। हममें से अधिकतर हिन्दी माध्यम के सरकारी स्कूल की पृष्ठभूमि से आयी थीं। इसलिए महज सुनने की, गुनने की आदत ही पड़ी हुई थी। कुछ टीचरों ने इस पहल को प्रोत्साहित किया तो एक-दो अन्य छात्राओं की चुप्पी भी टूटी और इससे मैं अधिक उत्साहित हुई। कक्षा में सक्रिय रहना मुझे अच्छा लगने लगा। पर टीचरों के नोटस् को निरंतर लिखते जाने, समझने-समझाने के प्रति कुल मिलाकर उपेक्षा के या उदासीन रवैये और कुछ टीचरों द्वारा खुली-सोच को विशेष प्रोत्साहित न करने के कारण; ...धीरे-धीरे मैं भी प्रायः उसी परम्परागत-पुराने ढर्रे पर चलने या सच कहें तो उसे सहन करने की आदी हो गई। दिमाग में, दिल में निरंतर उठने वाले प्रश्न... धीरे-धीरे फीके पड़ते गए।

मुझे खुद पढ़ना अच्छा लगता था। किताबों से प्यार-सा था मुझे। बस समय का अभाव हमेशा खलता था। परीक्षाओं को ध्यान में रखकर पढ़ना मेरे लिए एक बोझ था। और कई सालों तक मैंने दोहरी मेहनत की - अपनी रुचि को जागृत रखने के प्रयास और इम्तिहानों के लिए

पढ़ाई करना। इस दुगनी मशक्कत ने मेरे स्वास्थ्य को बिगाड़ दिया और मुझे नए-नए तनावों से घेर दिया।

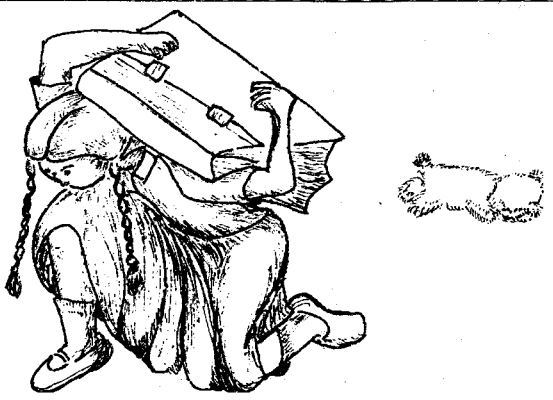

बहुत अधिक पाठ्यक्रम, सांस तक लेने की फुर्सत नहीं देता था और धीरे-धीरे बोझिल बन जाता था। कुछ विषयों में, विशेषकर उच्च शिक्षा में, कई फालतू की बातें, व्यर्थ की बहसें होती थीं जो कहीं लेकर नहीं जाती, कुछ भी नहीं सिखातीं और उलझनें इससे बढ़ती थीं।

पढ़ाई जो परीक्षा के लिए की जाती, बिल्कुल अलग ही तरह की होती थी। अपने ढंग से पढ़ने के लिए मैं हमेशा पर्याप्त समय पा सकने की लालसा पालती रही (जो कभी-कभी ही मुश्किल से पूरी हो पाती थी)। अपने ढंग की पढ़ाई में किसी पुस्तक में लिखी बात को मैं महज यूँ ही सतही रूप से न पढ़ती; बल्कि उनसे कई प्रश्न मेरे मन में उठा करते, उनपर सोचती-विचारती, कई कल्पनाएं करती, कभी-कभी अपने पापा-मम्मी से चर्चा किया करती, अपने शब्दों में अपने विचारों को कभी-कभी अभिव्यक्त करती (लिखकर), कई किस्म की आपत्तियां भी प्रकट करती, कुछ नए सवाल खड़े होते, उनके उत्तर टटोलती, कभी-कभी किसी भाव प्रधान वाक्य या अनुच्छेद पर तो मानो जान दिया करती थी, उससे प्यार किया करती थी, और सच बहुत मजा आता था। मजा ही नहीं बल्कि अच्छी-खासी समझ भी बना करती थी। वह समझ चाहे परीक्षाओं की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण न हों; पर जीवन में मेरे बड़े काम आती है। देश-दुनिया को समझने में, मनुष्य मन की थाह पाने में, अपने आत्मनिरीक्षण में मेरी बेहद मदद करती है वह समझ। इस किस्म की पढ़ाई मेरी जरूरत थी। मेरे मन-मस्तिष्क व आत्मा की खुराक थी और मेरी पहचान थी।...

पर यह व्यवस्था उसके लिए नाममात्र का समय देती थी।

व्यवस्था के जेल में कैद पढ़ाई और इस अपनी पढ़ाई के बीच तालमेल बिठा पाने के सफल-असफल प्रयासों में, मैं थक कर चूर हो जाती थी। ऐसा जान पड़ता था कि मुझसे 'मुझ' को निचोड़ लिया गया है, मुझसे 'मैं' ही जुदा हो रहे हैं और फिर मुझे बचाने के मेरे बेचैन प्रयास...। कई बार लगता था (विशेषकर स्कूल की बड़ी कक्षाओं या कॉलेज में) कि स्कूल-कॉलेज ने मेरी सोचने-समझने की क्षमता, मौलिक चिंतन की क्षमता को मानो मुझसे चूस कर निकाल देने का प्रयास किया हो।

खुलकर सोचना, नए-नए प्रश्न खड़े करना, लिखे हुए पर सवाल उठाना, कल्पनाएं करना, मर्म को पाना और सबसे बढ़कर इस सबसे कुछ सीखना (वह सीख जो जीवन के लिए हो, मनुष्यता के लिए हो)... सीखे हुए को अपनाने के प्रयास, सीखे हुए का जीवन में प्रयोग करके देखना, ... जिंदगी रूपी खुली किताब को पढ़ना-सोचना-समझना. ..। इन सबका इस परीक्षा केन्द्रित बंधी-बंधाई शिक्षा व्यवस्था में शायद कोई सरोकार नहीं है (चाहे कहने को शिक्षा नीतियों में बड़ी-बड़ी बातों को शामिल किया जाता है)। बल्कि कभी-कभी लगता है कि यह सब तो कई मायनों में इस व्यवस्था के लिए खतरनाक ही है। शायद मेरा सहज मन, मेरा सहज मस्तिष्क और सबसे बढ़कर मेरी आत्मा भी इस व्यवस्था के लिए 'खतरा' हो! और शायद इसीलिए व्यवस्था के खतरनाक पंजों में जकड़े जाने पर 'मुझे' मुझसे जुदा किया जाता रहा।

● ● ●

छुट्टियों का काम

(Holidays Home Work - H.H.W.)

'छुट्टियां'! कितना मधुर शब्द था यह। इसके कानों में पड़ते ही लगभग हर बच्चे की बांछे खिल जाती थीं। छुट्टियों का अर्थ था रोज-रोज स्कूल आने, होमवर्क दिखाने, टीचरों की डांट या नाराजगी सहने, सजा पाने, मार खाने, एक बंधे बंधाए अनुशासन के ढर्रे में निरन्तर अपने को फिट बनाए रखने के प्रयासों से कुछ समय के लिए मुक्ति! और भला ऐसी मुक्ति किसे अच्छी नहीं लगेगी। पर कुछ बच्चे जिनके घर में भी काफी डाँट-डपट होती या झगड़े होते रहते अथवा उदासीन-सा माहौल था.... कई बार लम्बी छुट्टियों में, एक लम्बे समय तक, अपने साथियों से दूर रहने की मजबूरी पर कुछ खिन्न होते थे। पर अधिकांश बच्चों की छुट्टी की बात सुनकर ही जो असीम खुशी प्रकट होती थी, जो हँसी, हल्ला-गुल्ला, चहकना होता था; उसमें वे भी आनंद लेते थे।

जैसे-जैसे लम्बी छुट्टियों (जैसे गर्मी की छुट्टियाँ, दशहरे-दिवाली की छुट्टियाँ....) नजदीक आने लगती थीं.... प्रार्थना के ग्राउंड में खड़े बच्चे चौकन्ने नजर आने लगते थे कि कब वह मधुर सुनायी पड़ने वाली घोषणा होगी कि कल या परसों से छुट्टियाँ हैं। उस कल का उन्हें बेसब्री से इंतजार रहता था।

छुट्टियों के साथ मौज-मस्ती, घूमने-फिरने, खेल-कूद आदि की कई काल्पनिक तस्वीरें बच्चों के मन-मस्तिष्क में रहती थीं (चाहे वे इच्छाएं पूरी हों या न हों) और जैसे-जैसे छुट्टियाँ पास आतीं, इन बातों पर चर्चा बढ़ जाती थी।

पर इन छुट्टियों का एक सबसे बड़ा दुश्मन होता था-'Holidays Home Work' यह छुट्टियों का सारा मजा किरकिरा कर डालने की क्षमता रखता था क्योंकि कई बार यह बच्चों की सामान्य क्षमताओं से अधिक दिया जाता था। 'H.H.W' एक ऐसा हथियार था, जिसके बल पर टीचर-परीक्षाएं-पाठयक्रम आदि भारी-भरकम शब्द, बच्चों पर अपना

दबदबा जमाए रखने के लिए, उनके घरों में भी प्रवेश कर जाते और उन पर काम का भारी बोझ लाद घर में भी उन्हें सदा अपनी याद दिलाए रखते....। कुछ टीचर पाठ्यक्रम के असीम बोझ को हल्का करने के लिए, उसके कुछ हिस्से को 'H.H.W' का रूप देकर उससे अपना पल्ला झाड़ने का प्रयास भी करते।

कई बच्चे अवकाश के इस गृह कार्य को बहुत गम्भीरता से नहीं लेते थे। पर कुछ बच्चे इसे गम्भीरता से ही लेते। गम्भीरता से कुछ तो लेना पड़ता ही था क्योंकि अवकाश गृह कार्य (H.H.W) पूरा न कर पाने पर स्कूल जाकर डाँट या मार पड़ना या सजा मिलना लगभग तय होता था। घर से अगर बच्चों को कुछ ढील मिल जाए, तो कई बच्चे H.H.W को, अधिकांश छुट्टियाँ बीत जाने पर अंत के थोड़े से दिनों में, जैसे-तैसे रात-दिन जागकर और घसीटे मार-मारकर पूरा करते थे। पर कुछ थे, जो मूर्ख बच्चे थे और H.H.W को भी बहुत अधिक गम्भीरता से लेकर अपनी अच्छी-खासी छुट्टियों को नीरस और बोझिल बना डालते थे। मैं भी उन्हीं मूर्ख बच्चों में से एक थी और टीचरों द्वारा लादे असीमित H.H.W. को धीरे-धीरे करके पूरी तरह और बिल्कुल परफेक्ट ढंग-से करने का प्रयास करती थी। मुझे याद है कि यह H.H.W. इतना अधिक कई बार होता था कि रोज नियमित रूप से करने पर भी; छुट्टियाँ खत्म होने को आतीं तो भी कुछ-न-कुछ बचा रह जाता और तब दिन-रात बैठकर उसे पूरा करना पड़ता। कई बार इस होमवर्क में चार्ट, मॉडल आदि बनाने को भी दिए जाते, जिन्हें मैं बड़ी लगन से बनाया करती थी।

कुछ बच्चे बेफिक्र थे और छुट्टियों में जी-भर कर खूब मजे करते, एक-एक ख्वाहिश पूरी करने का प्रयास करते.... पता नहीं फिर कब ऐसा मौका मिले... और वे H.H.W को प्रायः भूल-से जाते थे। छुट्टियाँ खत्म होने लगती तो उन्हें याद आता H.H.W. का; पर वे अपने को चिकना घड़ा बनाना ज्यादा सुविधाजनक समझते। आखिर सारी छुट्टियाँ तो मौज-मस्ती की ही थीं । अब थोड़ी डांट या मार खा लेंगे, क्या फर्क पड़ता है....। और मस्ती से दिन गुजारकर वे कुछ 'शहीद'

होने की-सी अदा में छुट्टियों के बाद स्कूल आते थे।

सबसे कष्टकर तो छुट्टियाँ तब हो जाती थीं; जब उन छुट्टियों के तुरन्त बाद ही हमसे टेस्ट देने की अपेक्षा रखकर, छुट्टियों के दौरान ही ढेर-सारी पाठ्य सामग्री याद करने को दे दी जाती थी। अब सिनसेयर (Sincere) या यूँ कहें थोंड़े डरू-से स्वभाव के बच्चे तो बस निरन्तर लगे रहते, उस टेस्ट की तैयारी में, जो उन छुट्टियों के हर पल-पल में कल्पनाओं में खिंचता-खिंचता एक भयानक दुस्वप्न बन जाता था। छुट्टियों के बाद टेस्ट के इस तरीके का बकायदा कभी-कभी व्यवस्था की मोहर लगती थी और यह 'टेस्ट' न रहकर 'परीक्षा' बन जाता और फिर हर किसी बच्चे के सिर पर ख़ौफ बनकर मंडराता रहता था। प्रायः क्रिसमिस की छुट्टियों के बाद इम्तिहान अवश्य हुआ करते थे (और इसी कारण जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गई, मेरा क्रिसमिस का त्यौहार मनाना लगभग छूटता ही गया।) छुट्टियों के बाद इम्तिहान छुट्टी का अर्थ ही खत्म कर डालते थे और रह जाती थीं तो बस प्रीपेयरेटरी छुट्टियाँ या तैयारी की छुट्टियाँ-परीक्षाओं की तैयारी का समय। कितना निर्दयी मन होगा वह जिसने 'छुट्टियों' के मधुर स्वर को 'इम्तिहानों की तैयारी' के कर्कश स्वर में बदलने की सोची होगी!

'Holidays Home Work' का छुट्टियाँ खत्म होने के बाद क्या होता था? प्रायः टीचर तुरन्त मांग करते उसे पेश करने की। छुट्टियों के बाद के दो-चार दिन इसी सब में गुजरते-होमवर्क का चैक होना, न करने वालों का डाँट, मार या सजा मिलना। चैक क्या होता था, महज एक खानापूर्ति होती थी। जिस असीम काम को करते-करते कुछ बच्चे छुट्टियों में थक जाते थे; उसे प्रायः अधिकांश टीचर ठीक-से चैक करने में अपनी अधिक मेहनत जाया करना पसन्द नहीं करते थे। कुछ टीचर तो बच्चों से ही उनकी कॉपी के पन्ने पलटवाते और उनपर अंधाधुंध राइट लगाते जाते,.... कुछ तो इतना भी न करते और बस शुरू के या आखिर के पेज पर अपना साईन मार देने भर को ही पर्याप्त मानते थे। कुछ H.H.W की कॉपियां ले लेते और फिर कई दिनों तक अपने पास रखते.... बाद में बार-बार बच्चों द्वारा याद दिलाए जाने पर

एक-आध घसीटे राइट के मारकर, एकाध कॉपी में (प्रायः हस्तलेखन या काम की मात्रा देखकर) गुड या फेयर लिखकर और जल्दबाजी में साइन करके लौटा देते थे।

ऐसे में मेरे जैसे मूर्ख बच्चे, जो तथाकथित 'सिनसेयर' माने जाते थे; अपनी किस्मत को रोते थे। छुट्टियाँ भी हम गंवा चुके होते थे और बदले में घसीटे हुए, फीके 'राइट' या साइन या एकाध 'गुड-, 'फेयर' के चिह्न मिलने के अलावा, कुछ सहपाठियों द्वारा हम अच्छे-खासे मजाक के पात्र भी बनते थे! प्रायः चार्ट या मॉडल, जो H.H.W के हिस्से के रूप में तैयार होते, ऊपरी या उड़ती नजर से देखे जाते। प्रायः कुछ प्रशंसा के शब्द पाकर ये उपेक्षित ही पड़े रह जाते थे या बहुत हुआ तो कहीं दीवार पर चिपका दिए जाते या किनारे पर रख दिए जाते।

धीरे-धीरे, हम जैसों ने भी शॉर्ट में काम निबटाने की कला सीखी और H.H.W को कुछ हल्का करने के लिए असहाय होकर, स्वयं ही कदम उठाए। अपनी तथाकथित ईमानदारी, सच्चाई और सिनसेयरिटी का थोड़ा त्याग करना हमने सीखा क्योंकि व्यवस्था तो अपनी ओर से इस बोझ को हल्का करने का कोई कदम उठाने को तैयार नजर नहीं आती थी।

● ● ●

हम हुए कामयाब!

दसवीं कक्षा की बात है। हमारी अंग्रेजी की अध्यापिका को कई बच्चे पसंद करते थे। वह अपनी जिम्मेदारी के प्रति काफी ईमानदार व मेहनती तो थीं ही, साथ ही बहुत मन लगाकर व रोचक ढंग-से पढ़ाया करती थीं। यद्यपि कुछ बच्चों के साथ वह सख्ती से भी पेश आती थीं, फिर भी कुल मिलाकर लगता था कि वह वास्तव में हमारे भले के लिए ही चिंतित हैं और हमारी बेहतरी के लिए ही प्रयत्न करती हैं। हम नहीं जानते क्या हुआ था पर सत्र के ठीक बीच में उनकी ट्रांसफर होने की खबर आ गई। वह जा रही थीं, हमें बीच मझधार में छोड़कर। एक तो बोर्ड की कक्षा, ऊपर से विषय भी अंग्रेजी! क्या करेंगे हम लोग? इतनी रोचकता से अब हम न पढ़ पाएंगे!... हम सब चिंतित हो चले थे कि अब क्या होगा? हम निराश थे। पर प्रयत्न की आशा अब भी कुछ बाकी थी।

हममें से कुछ दो-तीन बच्चों ने पहल की और हर एक बच्चे की सीट पर जा-जाकर एक प्रकार के शपथ-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने शुरू किए। इस शपथ-पत्र पर लिखा था कि हम सब वायदा करते हैं कि हम अंग्रेजी विषय में जरूर पास होंगे अर्थात अंग्रेजी विषय का हमारी कक्षा का रिजल्ट १००% होगा। सबसे इस पर हस्ताक्षर कराना काफी मशक्कत का काम था क्योंकि हम सबका अंग्रेजी का आधार (छोटी कक्षाओं में ठीक से न पढ़ने के कारण) कमजोर था और कुछ बच्चे तो ठीक-से चार-पाँच वाक्य तक अंग्रेजी में न बना पाते थे।.... पर जज़्बा था, लगन थी। समझाया-बुझाया, कसमें दे देकर मनाया और सबसे इसपर हस्ताक्षर कराने शुरू किए। यह अपील भी की कि अंग्रेजी विषय में सब एक-दूसरे की मदद करें और अपनी-अपनी तरफ-से भी सब मेहनत में कोई कसर न छोड़े!

इधर हस्ताक्षर अभियान जारी था, उधर मैंने अंग्रेजी में ही बड़ी लगन से एक चिट्ठी अपनी मैडम के नाम लिख डाली और एक सहेली के हाथों उन तक पहुँचा दी। खुद जाकर देने की मेरी हिम्मत न थी। पता नहीं, मैडम को कैसा लगेगा?.... कुछ समय बाद सब बच्चों के

हस्ताक्षरों से युक्त शपथ-पत्र भी मैडम तक पहुँचाया गया। हम अपनी तरफ से पूरी कोशिश कर चुके थे। उन दिनों मैडम द्वारा पढ़ाए गए पाठों को भी हमने बार-बार दोहराकर पक्का करना शुरू कर दिया था। हम उदास थे। एक दिन मैडम ने किसी बच्चे को भेजकर मुझे बुला भेजा।

मैं कुछ सहमी, कुछ घबरायी, कुछ शरमाती हुई-सी उनके पास गई। उन्होंने लपक-कर मुझे गले से लगा लिया और भावविभोर होते हुए मुझसे उस चिट्ठी का जिक्र किया, जो मैंने उनके लिए लिखी थी। उनकी आँखों में आंसू भर आए थे और भावविभोर होते हुए वह मुझे एक अलग कमरे में बातें करने के लिए ले गईं। मैं कुछ-कुछ हैरान थी और कुछ स्वयं भावनाओं में बही जा रही थी। उन्होंने बताया कि मेरी चिट्ठी ने उनके मन को छू लिया है। ''इतनी इमोशनल हो तुम।''- उन्होंने प्यार-से झिड़कते हुए मुझसे कहा और मेरे हाथों को मजबूती-से थाम लिया। मेरे पत्र में अभिव्यक्त विचारों भावों की सराहना करते हुए और मेरी भाषा की प्रशंसा कर मुझे प्रोत्साहित करते हुए, उन्होंने कुछ देर तक मुझसे बातें कीं।

कुछ समय बीतने पर, उनसे विदा ले मैं अपनी कक्षा में वापिस आ गई, पर मेरा मन अभी भी भारी था। मैडम जा रही थीं।....

कुछ दिन बाद गणित विषय का हमारा पीरियड चल रहा था। यह अंतिम पीरियड था और छुट्टी होने में कुछ ही समय बाकी था। मुझे अच्छी तरह से याद है वह क्षण।.... वह क्षण जब अचानक मैडम ने कक्षा में प्रवेश किया। उन्होंने पहले हमारे गणित के अध्यापक से कुछ बात की और फिर मुस्कराते हुए हमारी और देखकर कहा-

''मैं जा तो रही हूँ। पर तुम लोगों को न छोड़ूंगी। हर रोज इस अंतिम पीरियड में मैं तुम्हें पढ़ाने आया करूंगी। मैंने प्रींसिपल सर से बात कर ली है।....''

इस घोषणा का क्लास ने तालियों की गड़गड़ाहट और हो-हल्ले के साथ स्वागत किया। कुछ बच्चों को तो अपने कानों पर विश्वास ही न हुआ और वे इस बात पर और सवाल पूछने लगे। कुछ बच्चों की मानो मनचाही मुराद पूरी हो गई थी! वे बेहद खुश थे और मैडम के प्रति बेहद शुक्रगुजार थे। पूछने पर पता चला कि मैडम की जिस दूसरे स्कूल में ट्रांसफर हुई है, वहाँ उनकी नियुक्ति दोपहर के सत्र में हुई है। अतः

कुछ समय पहले आकर वह हमारे स्कूल में केवल हमारी कक्षा का अंतिम पीरियड लिया करेंगी और फिर वहां से अपने नए स्कूल चली जाया करेंगी। यह सेवा मैडम अपनी स्वेच्छा से दे रही थीं। यह सब जानकर तो उनके प्रति हमारी श्रद्धा और भी बढ़ गई। कितना चाहती थीं वह हमको, कितना ख्याल था उन्हें हमारा.... और कितना विश्वास, कितनी आशाएं थी उन्हें हमसे।

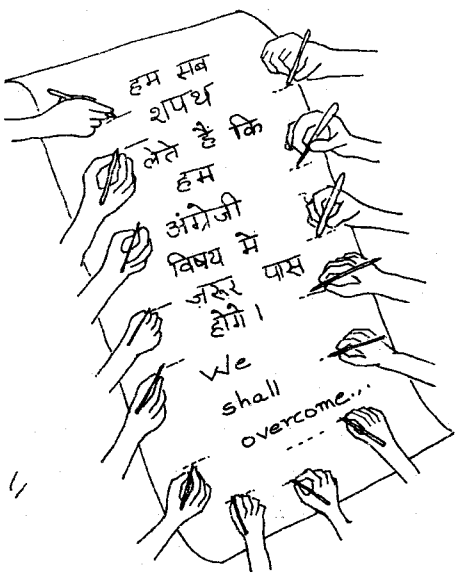

शेष सारे साल उनका यूँ हमें अंतिम पीरियड में पढ़ाने के लिए आने का सिलसिला चलता रहा। हम मेहनत व लगन से पढ़ते रहे। फेयरवैल के समय हमारी क्लास ने उनको अलग से एक फेयरवैल-पार्टी भी दी। पता भी नहीं चला कि कैसे उनके साथ बिताया वह समय बीत गया।

परीक्षाएं हुईं और रिजल्ट का इंतजार था। हमारे अंग्रेजी विषय के रिजल्ट पर कई लोगों की निगाहें थीं। हम भी चाहते थे कि मैडम को किया गया वह वायदा किसी तरह जरूर पूरा हो। और आखिर रिजल्ट आया तो....।

हाँ, हम उस वायदे पर खरा उतरे थे! अंग्रेजी में हमारी पूरी कक्षा पास थी अर्थात सौ प्रतिशत परिणाम था। कुछ बच्चों के ८५% से भी अधिक नम्बर आए थे। इस सबसे ऊपर भी हमने बहुत-कुछ पाया था - एक लगनशील टीचर की निष्ठा व विश्वास, आपसी एकता का अहसास.... और एक लक्ष्य के लिए, प्रतिबद्धता से किए गए, साझे प्रयास का सुखद अहसास।

● ● ●

'रट्टाफिकेशन'

परीक्षा पर आधारित शिक्षा में रट्टाफिकेशन का अहम् स्थान था। परीक्षाएं, जो चंद घण्टों में मुख्य रूप से मैमोरी (याद्दाश्त) टेस्ट करने पर आधारित हैं, रट्टाफिकेशन को प्रोत्साहित करती हैं। मैं पहली कक्षा से लेकर कॉलेज तक इसी रटने की प्रक्रिया को बार-बार दोहराया जाता देखती रही। स्वयं मैंने भी जरूरत पड़ने पर कई बार रट्टा लगाया; पर प्रायः ऐसा तभी होता था जब मेरे पास अन्य कोई विकल्प न बचता था। (जैसे जब परीक्षाएं एकदम नजदीक आ जाती थीं)। इम्तिहानों से पूर्व याद करने और रटने की इस तकलीफदेह प्रक्रिया से गुजरना ही पड़ता था।

हमारी कक्षा में कुछ बच्चे बिना सोचे-समझे बस पुस्तक या गाइड में दी गई पाठ्य सामग्री को रटा करते थे। कभी-कभी इस क्षमता के बल पर वे अच्छे नम्बर ले आते थे। पर कभी ऐसा भी होता कि उनके उत्तर हास्यास्पद से बन पड़ते थे क्योंकि प्रश्न को बिना समझे ही बस एकाध शब्द अपना परिचित देखकर वे लिखना चालू कर देते थे अपने रटे हुए पाठ को! तेजी से हाथ चलाना पड़ता था ताकि रटी हुई बात भूल न जाएं।

इम्तिहानों के दिनों में प्रायः हर रोज परीक्षा के निर्धारित कमरों से बाहर किताबें-गाइडें-कॉपियां लिए, कभी उंगलियां चलाते, तो कभी आँख मूंदे-दोहराते, बड़बड़ाते, बार-बार किसी पाठ्य सामग्री को पढते-रटते. ... व्यस्त बच्चे.... यह आम दृश्य था, जो प्रायः हर परीक्षा-भवन के बाहर नजर आया करता था। पहली कक्षा के इम्तिहानों से लेकर अपनी ग्रेजुएशन के फाईनल इम्तिहानों तक यही अनुभव मुझे रहा....

हम जैसे कुछ बच्चे जो यथासम्भव रट्टाफिकेशन से परहेज

करते थे या जिन्हें रटने और याद करने में विशेष तकलीफ होती थी, कई मुश्किलों से गुजरते थे। एक तो चंद घण्टों में फटाफट लिख पाने (जो परीक्षाओं की मांग थी) में हमें विशेष कठिनाई आती थी। दूसरा यह कि हम कभी भी अपने को परीक्षाओं में ठीक-से अभिव्यक्त नहीं कर पाते थे। ऐसा इसलिए था क्योंकि रटकर या याद करके उगलना हमारे लिए प्रायः दुष्कर कार्य होता था और यह हमारी सहजता को समाप्त करने पर उतारू होता था। यह हमें डराता था और हमेशा एक अनिश्चितता की भावना हमारे मन में जमाए रखता था। दूसरी ओर समझकर पढ़ने के कई बार फायदे भी बहुत नजर आते थे, विशेषकर बड़ी कक्षाओं में ऐसा जान पड़ा। फिर भी कुल मिलाकर परीक्षाएं याद्दाश्त का ही मूल रूप से इम्तिहान लेती जान पड़ती थीं। याद तो करना ही पड़ता था कुछ समझकर याद करते तो कुछ बिना समझे ही रट डालते....।

● ● ●

परीक्षाएँ और परीक्षा-परिणाम

सबसे अधिक असहज, बोझिल लगती है परीक्षा व्यवस्था। मगर इस व्यवस्था में भली-भांति फिट विद्यार्थी के लिए यह कुछ कम चिंता की जनक है। फिर भी तनाव, चिंता तो इससे सभी को होती है।

चिंता, नर्वस होना, तनाव, अनिश्चितता की भावना, भविष्य की चिंता...! सबकुछ टिका होता है - दो-तीन घण्टे के समय पर। सारे साल की मेहनत का जायजा लिया जाता है मात्र दो-तीन घण्टे में! कितनी असंगत व्यवस्था है यह। उस दो-तीन घण्टे में क्या गारण्टी है कि इंसान का मन-मस्तिष्क व शरीर उसका साथ दे (विशेषकर तब जब तनाव, नर्वस होने का प्रभाव सब कुछ गड़बड़ा भी सकता है)। निर्धारित समय-सीमा एक खौफ बन जाती है, कसा हुआ समय होता है।...

> परीक्षाएं जाँच करती है याद्दाश्त की, एक निर्धारित समय में किसी के मस्तिष्क की तेज गति से काम करने की क्षमता की।

परीक्षाओं से पहले का माहौल ही इस बात की सूचना दे देता है कि यहाँ किस्मत के भरोसे बहुत कुछ है। परीक्षा-व्यवस्था, पेपर चैकिंग व्यवस्था में किस्मत एक महत्त्वपूर्ण रोल अदा करती है। परीक्षाओं से पूर्व हर किसी का 'बैस्ट ऑफ लक', 'ऑल दी बेस्ट', 'गुड लक' कहना ..., बड़ों का यह जताना कि वे हमारे लिए चिंतित हैं, प्रार्थनाएं कर रहे हैं (मानो भगवान बच्चे के जीवन का फैसला इन चंद घण्टों के भीतर ही करने जा रहे हों!)...।

> असफलता का अर्थ है बदनामी, बेइज्जती, डाँट, हीन-भावना, अपने पर विश्वास न रहना और कभी-कभी तो जीवन पर ही विश्वास न रहना! (नतीजा देखा जा सकता है - मानसिक-शारीरिक विकार, मनोवैज्ञानिक समस्याएं, आत्महत्या जैसे कदम...।)

सफलता किसे कहेंगे? पहली बात तो यह कि सफलता के मानदंड ही स्पष्ट नहीं हैं। अभिभावकों, टीचरों की अपेक्षाएं असीमित हैं। स्टूडेंट की स्वयं अपने आप से भी असीमित अपेक्षाएं रहती हैं, महत्त्वकांक्षाएं होती हैं। परस्पर तुलना किया जाना, प्रतिस्पर्धा का दबाव हावी रहता है।

फिर सफलता के साथ कई बार घमंड, अपने आप पर जरूरत से ज्यादा विश्वास, निरंतर उस स्तर पर बने रहने का तनाव, अन्यों को अपने से हीन समझना... जैसे विकार भी जुड़े होते हैं।

● ● ●

[यह कहानी मेरे स्वयं के कुछ बड़ी कक्षाओं के अनुभव और मेरी समूची औपचारिक शिक्षा प्रक्रिया के दौरान समय-समय पर अपने आस-पास के माहौल में मैंने जो देखा (औरों के साथ भी घटता हुआ) और जो अहसास किया - उन तमाम अलग-अलग समय में हुए अनुभवों पर आधारित है।]

"रेखा! तुम्हारी तैयारी कैसी चल रही है?", "रेखा! सबकी निगाहें तुम्हीं पर टिकी हैं।", "अभी से इम्तिहानों को ध्यान में रखकर पढ़ो", "इस बार कोई कसर बाकी न रहे..." "रेखा! मेरे विषय में तो तुम्हारे ८०% से कम नहीं आने चाहिए", "ओहो, जरा इनकी तैयारी तो देखो, क्यों टॉप करना है क्या?", "रेखा! तेरी बात और है। अगर तू ही डरने लगी; तो हमारा क्या होगा?", "रेखा! तुम हर कोटेशन को बार-बार लिख-लिखकर प्रैक्टिस करो", "बेटा, मैं तेरे लिए सैम्पल पेपर ला दूँ?", "रेखा! पड़ोस की मिसेज वर्मा कह रही थीं कि आपकी बेटी तो घर से बाहर दिखती ही नहीं... अब उनके अपने बच्चे तो फस्ट नहीं आते न!", "इस बार पिछली दफे से ज्यादा नम्बर लाने हैं, तुम्हें". .. आदि-आदि।

ये अनगिनत वाक्य सारे समय रेखा के दिमाग पर हथोड़े की तरह वार करते रहे। उसके मन पर अजीब-सा दबाव पड़ता गया। वह थका-थका सा महसूस करने लगी, डरी-डरी सी, और जैसे-जैसे परीक्षाएं नजदीक आती गईं टीचरों, अभिभावकों, सहपाठियों के इन वाक्यों की संख्या निरंतर बढ़ती गई।

रेखा के पास अब कोई चारा न था। कुछ भी हो, इस बार तो बढ़िया परिणाम लाकर दिखाना ही है। इस बार सोनू, सविता को भी पीछे छोड़ना है। 'डी' सेक्शन के बच्चों को भी पीछे छोड़ना है। यह उसकी इज्जत का सवाल है, सबकी इज्जत का सवाल है। कितनी इच्छाएं, अपेक्षाएं हैं उससे टीचरों की, सबकी...। हे भगवान! मेरी लाज रखना। अगर पिछली बार की तरह इस बार भी कुछ विषयों में कम नम्बर रह गए तो!! नहीं... नहीं... ऐसा नहीं हो सकता। हे भगवान! मैं कमजोर क्यों पड़ रही हूँ।... मुझे रात-भर पढ़ना होगा... दिन में भी...। नहीं, मैं अब कहीं नहीं जा सकती...। मुझे बस पढ़ना है। सविता कौन-सी नई किताब लायी थी। हुँ! होगी कोई सस्ती-सी हैल्पबुक। ... कहीं मैं अपना स्थान न खो बैठूं...। हे भगवान! अगर फेल हो गई तो!!. .. नहीं-नहीं, यह मैं क्या सोचने लगी... उफ! मैंने तो अपनी सारी ताकत लगा दी है।... मैं थक रही हूँ...। पर नहीं, अभी तो काफी कोर्स बाकी है...। मैडम तो चाहती हैं कि हर लाइन टिप्स पर हो... क्या करूँ? हमें तो हर हाल में सबकी आशाओं पर खरा उतरना होगा।... आजकल मैडम जल्दी-जल्दी में कैसे कोर्स खत्म करवाने में लगी हैं। ...कुछ भी तो समझ नहीं आ रहा। कैसा दिमाग होता जा रहा है मेरा...! बिल्कुल खाली-खाली सा लगता है...।, सिरदर्द रोज रहने लगा है!, मम्मी अब मेरे लिए रोज प्रार्थनाएं करने लगी हैं।, आखिर भगवान कभी तो सुनेंगे...। उफ! मैं तो भूल ही गई... हेमंत कौन से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की बात कर रहा था...। - कुछ इसी उधेड़-बुन में रेखा साल-भर रही।

दिन बीतते गए और इम्तिहान बिल्कुल निकट आ गए। परसों पहला पेपर था। सब बच्चे डरे-सहमें थे। अस्थिर हो रहे थे। रेखा का तो बुरा हाल था। अब तो उसे इस बात पर भी विश्वास छूटता-सा लगता

था कि वह अच्छे नम्बरों से पास हो पाएगी या नहीं! फेल होने की कल्पना तो मौत के समान थी। उसको हर हाल में सबकी अपेक्षाओं पर खरा उतरना होगा। ...क्या ऐसा हो पाएगा? घर में हर कोई उसका विशेष ख्याल रख रहा है। वह भी अपने को खास महसूस कर रही है।... सारा कोर्स हो चुका है। बस अब अंतिम बार रिवीज़न करनी है। पर ऐसा क्यों लग रहा है मानो उसे कुछ भी नहीं आता... सब कुछ भूलता जा रहा है! पर नहीं, हे भगवान! मेरा साथ दो...। मुझे नर्वस नहीं होना है। आखरी रिवीज़न के वक्त ऐसा क्यों लग रहा है कि जैसे अपने ही लिखे गए ये शब्द अब पराए होते जा रहे हैं? उफ! इस टॉपिक पर तो मेरी पकड़ थी... अब क्या हो रहा है?... नहीं...नहीं, मुझे सम्भलना होगा...।

"बेटा, रात को ज्यादा समय तक मत पढ़ना, सुबह दिमाग ताजा रहेगा।", "बेटा, मैं तेरे साथ जाऊंगी और पूरे समय तेरे लिए प्रार्थना करूंगी"। ...रेखा बेचैन हो रही थी, अंदर-ही-अंदर। अब तो सब भगवान के हाथ में है। मुझे अपने पर विश्वास नहीं खोना है...। "तेरी मौसी का फोन था, तेरे लिए 'बेस्ट ऑफ लक' कह रही थीं।" "पेन-पेन्सिल सब रख लिया न?" ... ओह! सब कुछ भारी-भारी क्यों लग रहा है? दूसरे पेपर की मेरी तैयारी तो कमजोर है। पर उफ! अभी मैं यह सब क्या सोचने लगी। हे भगवान! क्या होगा?... मैं इम्तिहान से पहले सोनू, सविता आदि से ज्यादा बातें नहीं करूंगी, ... बेकार कन्फ्यूज़न हो जाती है। "ओहो, मम्मी मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।" मेरा दिल बैठ रहा है... क्या करूँ?...

परीक्षा भवन से बाहर का दृश्य। बच्चे चिंतित, और अस्थिर से खड़े हैं। कोई टहलते हुए पाठ दोहरा रहा है, तो कोई बैठा हुआ याद कर रहा है। अंत तक रट लें, एकदम ताजा-ताजा याद रहेगा। अधिकांश बच्चों के हाथों में नोट्स, गाइडें, कुंजियां, किताबे हैं। महत्त्वपूर्ण क्या है, इसको लेकर सब अपनी-अपनी अटकले लगा रहे हैं... क्या आ सकता है?... कुछ बच्चे झुण्ड बनाकर खड़े हैं और एक-दूसरे से प्रश्न पूछ रहे हैं... कुछ का दिल बैठ रहा है... तो कुछ बहुत उत्तेजित होते हुए, रटा हुआ सब अभी ही उगल रहे हैं...। कुछ इस समय भी नए सिरे से कुछ

समझने की माथा-पच्ची कर रहे हैं।... इस समय क्या समझ आएगा। पहले का सब भूल जाएगा!

कई बच्चों के माथे पर शिकन है। अधिकांश बच्चे तनावग्रस्त दिख रहे हैं। कुछ बाहरी तौर पर हँसने-मुस्कराने का प्रयास कर रहे हैं. .. खुद को धोखा देने के लिए, सामने वाले को धोखा देने के लिए। कुछ बच्चे बार-बार पानी पी रहे हैं। हर तरफ, हर कोई एक-दूसरे को 'बैस्ट आफ लक', 'ऑल दी बेस्ट', 'गुडलक' कह रहा है। अब तो सब किस्मत पर ही निर्भर करता है।... प्रश्न पत्र में न जाने क्या पूछा जाए? ...पता नही तब याद आएगा या नहीं! कुछ अभिभावक भी खड़े हैं, जो अपने बच्चों को कुछ हिदायतें दे रहे हैं या समझा रहे हैं। कुछ बच्चों के माथे पर तिलक लगा है, शायद वे अभी-अभी मंदिर से आ रहे हैं। "तूने यह किया", "वह टॉपिक तो सबने ही छोड़ा है।" "यह प्रश्न आ जाए तो तू क्या लिखेगा?" "यार, बस भगवान हम सबकी नैया पार लगा दे।"... ऐसे अनगिनत वाक्य सुनायी पड़ रहे हैं। रेखा को इस सबके अतिरिक्त भी कुछ सुनने को मिल रहा था - "तेरा क्या है, तुझे तो सब आता होगा।", "सुन-सुन इसका उत्तर तो बता...", "तूने तो यह कर ही लिया होगा"... बेचारी रेखा, जितना बचना चाहे, उतना ही घिरी जा रही थी - प्रश्नों की बौछार से ...। अब उसने कुछ अलग-थलग खड़ा होकर मन को एकाग्र करने की कोशिश की। पर मन था कि सम्भलता ही न था! दिमाग खाली-खाली लग रहा था। वह अपने को सम्भालने का प्रयास करती रही...। भगवान को याद करती रही...।

●

घण्टी बजी और बच्चों ने कमरों में प्रवेश किया। सब घबराए हुए थे, कुछ हौंसला बनाए रखने हेतु अंदर-ही-अंदर संघर्षरत थे। कुछ तो अंत तक अपनी कॉपी-किताबों से कुछ न कुछ रटते रहने का मोह न छोड़ पा रहे थे। अंदर जाते ही परीक्षा-निरीक्षकों की हिदायतें शुरू हो गईं। उत्तर पुस्तिकाएं मिलीं तो... उनमें रोल-नम्बर आदि भरने संबंधी हिदायतें दी गईं। घबराए, परेशान कुछ बच्चों को तिथि आदि...छोटी बातें भी भूलने लगीं।... वे एक-दूसरे से पूछने की कोशिश करते...। कुछ

अपने पेन-पेन्सिल संभालते, तो घबराहट से उनके हाथ कांपते और चीजें हाथ से छूट कर गिर पड़तीं...! "बिल्कुल शोर न करो", "आवाज करोगे तो समय पर पेपर शुरू नहीं होगा...। देख लो, तुम्हारा ही नुकसान है।" आदि-आदि अनगिनत हिदायतें। देर से कमरों में प्रवेश करने वालों को जल्दी-जल्दी सब करने की हिदायत मिल रही थी...। रेखा अपने चारों ओर के माहौल से घबराने लगी थी। वह निरंतर प्रार्थना भी कर रही थी।

आखिर अंतिम घण्टी बजी और प्रश्न पत्र बांटे गए। रेखा को पहले-पहल तो प्रश्न पढ़कर लगा मानो उसका दिमाग बिल्कुल ब्लैंक (खाली) हो गया है। फिर थोड़ा संभलकर उसने पुनः पेपर पढ़ा तो लगा, अधिकतर प्रश्न उसके जाने-पहचाने हैं। पर इन सबका उत्तर क्या

है? ऐसे लगा मानो फिर दिमाग खाली हो गया है। उफ! हे भगवान! मेरा साथ दो। यह क्या हो रहा है मुझे!! सब कुछ भूला जा रहा है। उफ! यह टीचर भी इसी समय साइन कराने आ गई है... कितना समय बीत गया होगा? ...रेखा ने व्याकुल हो घड़ी देखी और परेशान हो गई। ...मैं अभी तक तीन-चार लाइनें ही लिख पायी हूँ। ओह! समय बीता जा रहा है...। रेखा ने इस उधेड़-बुन से निकलने के प्रयास में जैसे-तैसे मन को सम्भाला और अपने दिमाग को ठण्डा रखने की कोशिश करते हुए, उत्तर लिखने शुरू किए। ... धीरे-धीरे हाथ बैठ गया, कलम चलने लगी. ..। पर दिमाग पर बहुत जोर डालना पड़ रहा था। तथ्य याद तो आ रहे थे, पर बहुत धीरे, रुक-रुककर...। जैसे बहुत पुरानी बातों को कोई दिमाग पर जोर डालडालकर याद करने का प्रयास कर रहा हो। पहला उत्तर ही कुछ लंबा खिंच गया था... उसमें समय भी काफी लगा। रेखा ने घड़ी देखी तो वह फिर घबरा गई। अभी तो पूरा पेपर बाकी है! हे भगवान्! मुझे शक्ति दो। हाथ ठण्डे पड़ चुके थे, काँप रहे थे... होंठ सूख रहे थे, गला रुंधा जा रहा था... सारा शरीर मानो जकड़-सा गया था।... पर आगे लिखना तो था ही...। पानी पीकर कुछ साँस आयी तो पुनः लिखना शुरू किया। ...खैर, जैसे-तैसे कुछ तथ्य याद आते रहे, कुछ वाक्य नए प्रकार के भी बनते रहे...। ...पर अब तो जल्दी-जल्दी हाथ चलाना था, उससे भी जल्दी दिमाग चलाना था। उफ! ये टीचर आपस में बातें क्यों कर रहे हैं, कितना विघ्न पड़ रहा है...। जैसे-जैसे घण्टी बजने का समय निकट आता गया, हाथ और तेज चलाने पड़े.. .। परीक्षा-निरीक्षक बीच-बीच में घोषणा करने लगे थे - "अब चालीस मिनट शेष रह गए हैं", "अब बीस मिनट शेष हैं।" ..."दस मिनट..." ...इसी तरह समय बीतता गया और वह खौफनाक दौर खत्म हुआ। उत्तर-पुस्तिकाएं ले ली गईं। बच्चे आपस में बतियाते हुए हॉल से बाहर निकलने लगे।...

सभी की जुबान पर पहला वाक्य यही आता था - "कैसा हुआ?" या "कैसा रहा"। फिर प्रश्न पत्र पर टिप्पणी की जाती। "टफ था", "मुझे तो आसान लगा", "ठीक-ठीक था", "इस प्रश्न का उत्तर

कितना लम्बा था न!", "यह कैसा प्रश्न था?" ... आदि-आदि। रेखा ने जैसा सोचा था, जैसी सबकी अपेक्षाएं उससे थीं; वैसा तो वह बिल्कुल न कर पायी थी। उसे दुख था कि सब कुछ उसका पढ़ा हुआ ही था; पर फिर भी वह नर्वस हो गई थी...। खैर, बाहर बातों से उसे लगा कि उसके कुछ दोस्तों से तो वह बेहतर ही लिख आयी है। पर वैसा नहीं जैसा उसने सोचा था...। जितनी दिन-रात मेहनत उसने की थी; अंत में लगा सब इतनी आसानी से मानो बह गई। कुछ बच्चे अपने नम्बरों का अंदाजा लगा रहे थे। अपने उत्तर वे पुस्तकों से मिला रहे थे। अभिभावकों के सामने भी बच्चों की पेशी होनी थी - कैसा हुआ? क्या लिखा? पेपर कैसा था? कितने नम्बरों की उम्मीद है? आदि-आदि।

इस तरह पेपर-दर-पेपर बीतते गए। रेखा का कोई पेपर अच्छा गया, तो कोई कुछ बिगड़ गया। उसे लगा, सारे साल की मेहनत ठीक-से सामने आ नहीं पा रही, ... उन चंद घण्टों में।...

पेपर खत्म हुए! चैन की सांस ली बच्चों ने, अभिभावकों ने! अब सब आजाद पंछी थे। छुट्टियों में वे क्या-क्या मजे करने वाले हैं? - इसका जिक्र करते हुए सब अपने घरों को लौटे। कुछ ने मिलकर पिक्चर देखने या पार्टी करने का प्रोग्राम बनाया था। अब तो उत्सव का सा माहौल था!

...छुट्टियां बीतती गईं। और आखिर रिजल्ट भी आ गया। कल से स्कूल पुनः खुल रहे थे। रेखा अपनी कक्षा में प्रथम आयी थी। सविता उससे केवल दो नम्बरों से पीछे थी। पर पिछली बार से रेखा के कम नम्बर आए थे। उसे हैरानी थी कि कैसे उसके एक प्रिय विषय में (जिसका पेपर भी उसने अच्छा ही किया था), उसको काफी कम अंक मिले थे। और उस विषय में जिसे वह नापसंद करती थी और जिसकी तैयारी पर उसे भरोसा न था... उसमें उसके काफी अच्छे नम्बर आ गए थे। पहला पेपर (जब वह काफी नर्वस हो गई थी) उसका एक चहेता विषय ही था; पर इसमें तो वह मुश्किल से ही पास हुई थी। रेखा दुखी थी... बहुत दुखी। प्रथम आने की कैसी खुशी, जब अपेक्षाएं तो पूरी हुई न थीं! उसे लग रहा था मानों जिन्दगी थम-सी गई है। साल भर की

मेहनत और फिर भी नतीजा अपेक्षा से कम! सबसे ज्यादा डर तो उसे कल स्कूल में कुछ टीचरों को फेस करने का था। वह कुछ टीचरों की अपेक्षाएं पूरी न कर पायी थी! फिर उसे याद आया कि उसके सभी साथी अगली कक्षा तक नहीं पंहुच पाए हैं! उन पर क्या बीत रही होगी!!...

अगली सुबह स्कूल की ओर कदम बढ़ाते हुए दिल में एक अजीब-सी बेचैनी थी। अगर गेट पर ही मिस अंबिका मिल गईं तो! वह तो उससे कहां ८०% की उम्मीद लगाएं थीं और कहां वह उनके विषय में मुश्किल से ही पास हो पायी है!!... गेट पर नलिनी दिखायी दी। वह पास नहीं हो पायी थी। रेखा को समझ नहीं आ रहा था, उससे कैसे मिले। वे दोनों मिलीं, पर कुछ न बोलीं। नलिनी की आँखों में आंसू छलछला आए थे। रेखा ने उसकी ओर देखा तो नलिनी ने आँख चुराने की कोशिश की। रेखा की भी आँखे भर आयीं और उसने अपने कांपते गर्म हाथ नलिनी के ठण्डे पड़ चुके हाथों पर रखे। नलिनी ने मुंह मोड़ा और भाग खड़ी हुई...। रेखा मानो वहीं जम गई।

पीछे से आती भीड़ ने उसे आगे धकेला; तो वह अचानक चौंक उठी। फिर लम्बी सांस भरते हुए आगे को बढ़ी। मैदान में उसकी कक्षा के कई बच्चे एक तरफ ग्रुप बनाकर खड़े थे। रेखा उनके पास पंहुची तो सबने उसे प्रथम आने की बधाई दी। रेखा उनकी बातचीत में शामिल तो हुई पर कुछ कम ही बोली। "रेखा! अंबिका मैडम के पेपर में तुम्हें क्या हुआ?" -जिस प्रश्न से रेखा घबरा रही थी, वही सविता ने उसपर दागा। "यूँ ही यार, मैं... दरअसल मैं नर्वस हो गई थी।" - रेखा ने उत्तर दिया। "पेपर तो वह आसान था!" - सविता ने कटाक्ष किया (उस पर्चे में सविता को अच्छे अंक मिले थे)। पर रविन्दर, मालिनी, सोनू आदि ने बात को आगे न बढ़ने दिया...। चर्चा अब नर्वस होने पर छिड़ गई थी और कुछ बच्चों ने अपने-अपने नर्वस होने के अनुभवों का जिक्र किया। उन्होंने परेशान होते हुए बताया कि समझ नहीं आता आखिर उनके साथ यह क्यों होता है कि सब कुछ आते हुए भी, वे पेपर में ठीक से लिख नहीं पाते। फिर तो एक के बाद एक सबने अपनी-अपनी समस्याएं बतानी शुरू कीं।

बातें अधिक आगे न बढ़ पायीं क्योंकि घण्टी बज गई थी और मैदान में कक्षाओं की कतारें लगनी शुरू हो गई थीं। रेखा की क्लास की लाइन भी बनी। यह देखकर उसे धक्का लगा कि कुछ पुराने मित्र अब उनसे बिछड़ कर निचले दर्जे की कक्षा की लाईन में लगे थे! सामने टीचर खड़े थे और कई बच्चे उनसे नजरे छिपाने के प्रयास कर रहे थे। प्रार्थना के समय अचानक रेखा की निगाहें सामने की ओर उठीं तो अंबिका मैडम की निगाहों से टकरा गईं। अंबिका मैडम ने उसे कुछ गुस्से कुछ शिकायत-भरी निगाहों से घूरा। उफ!... बस उनकी नजरें ही बाकी अधिकांश समय रेखा की आँखों के सामने नाचती रहीं! प्रार्थना के बाद कुछ घोषणाएं हुईं। उसके बाद विभिन्न कक्षाओं की लाइनें एक-एक करके ड्रम की ध्वनि के साथ कदमताल करती हुईं, अपने कमरों की ओर बढ़ने लगीं। नलिनी, स्नेहा, कपिल आदि की लाइनं उनके निकट ही खड़ी थी और अब बिछड़ कर उनसे दूर जाने लगी! ... बिछड़े जा रहे ये पुराने साथी... ठप्पा लग चुका था उनपर 'फेल' का और अब उनसे अपने साथियों के साथ रहने का हक छीन लिया गया था!! ...

नई कक्षा में हलचल थी। चाहे परीक्षा-परिणाम से भले ही

उदासी या निराशा हो; पर नई किताबें, नया कमरा, नई टीचरें... काफी विषय थे बातों के लिए। रमेश, फूला, नितिश आदि ने तो अपनी चुलबुली शरारतें भी आरम्भ कर दी थीं। उनसे स्थिर तो बैठा नहीं जाता था और नए स्थान के हर कोने को जान-पहचान लेने के वे काफी उत्सुक तो थे ही।

कक्षा में शोरगुल मच गया था कि तभी नए क्लास टीचर के प्रवेश करने पर शोर थमा। कुछ आरम्भिक औपचारिक परिचय दे वे रजिस्टर में हमारे नाम आदि चढ़ाने में व्यस्त हो गए। कुछ समय बाद हमें टाइम-टेबल लिखवा और अपने विषय की किताब-कॉपियों की चर्चा कर, शेष समय वह हमसे हमारे नम्बर पूछते रहे। यह सिलसिला आगे के कुछ पीरियडों के दौरान भी चला। एक टीचर ने तो सभी विषयों के अलग-अलग नम्बर भी पूछे और यहां तक कि उनपर 'गुड','ओ.के.', 'वैरी बैड' जैसे अपने निष्कर्ष भी पेश किए।...

आधी छुट्टी का समय था। बाहर घूमते हुए रेखा को अंबिका मैडम मिलीं। मिलते ही मैडम फूट पड़ीं - "रेखा! तुमसे ऐसी उम्मीद न थी। मेरे विषय में तुम्हारे इतने कम नम्बर आएंगे, यह तो मैंने सोचा भी न था। क्या हो गया है तुम्हें? मैंने कहा था न कि ग्रामर को हल्का मत लो।" ...आदि-आदि। मैडम एक सांस में बोलती रहीं।

रेखा कुछ बोल न पायी। वह बस रोना चाह रही थी। उसके मन में एक क्षण को आया कि पूछे - 'और सारे साल जो मेहनत की थी, जिस लगन से सब समझा था; उसका कुछ नहीं?...' कैसे कहे कि आता तो उसे सब था, पर कुछ न कर पायी... बस, नर्वस हो गई। वह कुछ न कह सकी। सुनती रही। सर झुकाए। चुपचाप।

... उसका शरीर कुछ काँपने लगा था। ... और उसे चक्कर से आ रहे थे।

सब सुन जब रेखा वहां से आगे बढ़ी, तो उसका मन काफी भारी था। चक्कर आ रहे थे। पड़ोस की कक्षा की एक लड़की ने मानो जले पर नमक छिड़कते हुए पूछा "हैलो रेखा! तुम्हारे अंबिका मैडम के पेपर में कितने नम्बर आए हैं?"

"बस यूँ ही...।" - रेखा ने टाल दिया और अपने को सम्भालने का प्रयास करती, भारी कदमों से अपनी कक्षा की ओर लौटने लगी। सर अब भी चकरा रहा था।...

"फेलू-फेलू... फेलियर" - अचानक यह शब्द उसके कानों में पड़े। पलटकर देखा तो पाया कि प्राइमरी कक्षाओं की दो छोटी लड़कियां एक छोटे लड़के को यह कह-कहकर चिढ़ा रही थीं। वह लड़का मुँह टाँगों में छिपाए एक कोने में उदास-सा बैठा था।

और फिर अचानक सबकुछ गडमगड होने लगा। रेखा की आँखों के सामने एक के बाद एक नाराज होती अंबिका मैडम, कटाक्ष करती सविता, फेल हुए नलिनी, कपिल आदि और नम्बर पूछते नए-नए टीचर आने लगे। कानों में भी बहुत कुछ गूंजता-सा प्रतीत होता था...

'तुमसे यह उम्मीद न थी।'... रेखा... रेखा... 'रेखा! तुम्हारे अंबिका मैडम के पेपर में कितने नम्बर हैं?' 'इतने कम नम्बर इस विषय में कैसे आए?'... ...फेलू-फेलू ... फेलियर ... आदि एक-साथ कई आवाजें उसके कानों में गूंजने लगीं। ऐसा जान पड़ रहा था मानो उसके सिर पर हथोड़े से कोई वार कर रहा हो। सुबह का, नलिनी का डबडबायी आँखों वाला चेहरा याद आया...। ...रेखा के बढ़ते कदम रुक गए।...

रेखा ने अपने को संभाला और अपनी नई कक्षा के कमरे के स्थान पर, पुरानी पिछली कक्षा के कमरे की ओर बढ़ गई। वह नलिनी, कपिल आदि से मिल कर आएगी। जैसे भी बन पड़ेगा, उन्हें, कुछ देर के लिए ही सही, खुश करने की कोशिश तो करेगी। उनकी हिम्मत बंधाएगी।... और अब ... और अब रेखा को चक्कर नहीं आ रहे थे।

● ● ●

उत्तर पुस्तिकाएं

चंद घण्टों में भरनी होती थीं उत्तर पुस्तिकाएं। पेपर शुरू होने पर जब कोरे कागजों का यह पुलिंदा सामने होता था (जिसमें प्रायः कागज की किस्म घटिया हुआ करती थी); तब सचमुच दिल बैठता-सा लगता था, यह सोच-सोचकर कि क्या कुछ लिखेंगे इस पर, कितना याद आ पाएगा लिखते हुए?, क्या यह शीट्स भर पाएंगी? ...आदि। और फिर इनको भरना होता था, अपनी याद्दाश्त पर जोर डाल-डालकर या याद किए को इनपर उगलने के प्रयास में। कम समय होता था और लिखते-लिखते कई बार हाथ भी कांपते थे।... अतः प्रायः कई घसीटे ही इन उत्तर-पुस्तिकाओं पर सुशोभित हो पाते थे। कुछ बच्चे इन उत्तर-पुस्तिकाओं के किनारों पर या शुरु में ऊपर की तरफ ओ३म् (ॐ) का चिह्न, स्वास्तिक (卐) चिह्न बनाते या 'जय माता दी' तक लिखते! भगवान उनकी नैया पार लगाएगा, ये चिह्न या शब्द उन्हें यह आश्वासन देते लगते थे।

"तूने कितनी शीटस् भरीं?", "तूने कितने पन्ने भरे?" - प्रायः परीक्षा-कक्ष से बाहर निकलते समय बच्चे आपस में यह सवाल भी पूछा करते थे। और क्यों न पूछें? उत्तरों की लम्बाई भी तो नम्बर निर्धारित करने वाला एक मानदण्ड मानी जाती थी। शीटों का भरना, अधिक ज्ञानवान होने का सूचक था, अधिक मेहनत का सूचक था। और मात्रा (क्वांटिटी) का यह महत्त्व प्राथमिक कक्षाओं से ही शुरू होकर, बीच की कुछ बड़ी कक्षाओं को छोड़, कॉलेज तक में मैंने विद्यमान पाया था। जब हम शायद सातवीं-आठवीं में थे, तब हमारे एक टीचर तो जनाब, बकायदा, अपनी हथेली, उंगलियों का प्रयोग करके उत्तरों की लम्बाई नापा करते थे और फिर अपने मन में पहले से निर्धारित मानकों के अनुसार नम्बर दिया करते थे!! उनका हम सब मजाक उड़ाया करते थे और कुछ बच्चों को तो उन्हें बेवकूफ बनाने में भी मजा आता था। प्रायः कई बच्चे उनके विषय की उत्तर पुस्तिका में मनगढ़ंत कई बातें लिख दिया करते थे; बस इसी बात का ध्यान रखते थे कि मात्रा काफी

हो। कुछ अन्य टीचर, इस प्रकार नापते तो न थे पर, 'बड़े उत्तर के बड़े नम्बर' वाली अवधारणा के वे भी कायल थे और प्रायः जल्दी चैक करने की कोशिश में उत्तर पुस्तिका को ठीक से पढ़ते भी न थे। हमारी कक्षा के कुछ बच्चे तो काफी मजे लेते थे। एक-दो बच्चों ने तो एक टीचर के पेपर में मनगढ़ंत कहानी तक लिख डाली थी और उनकी गलती नहीं पकड़ी गई थी। ऐसे बच्चे जो उत्तर पुस्तिका में कुछ भी मनगढ़त लिख डालते थे, कई बार हमें हँसाने के लिए कुछ लिखा हुआ बताते भी थे। ऐसे में हम हँसते, उनकी हिम्मत की दाद देते, हैरान होते और अपनी मूर्खता (क्यों हमने इस पेपर को इतनी गम्भीरता से लिया) पर खिन्न भी होते थे। पर इस हँसी के पीछे मेहनत व लगन से पढ़ने वाले कुछ बच्चों का दर्द भी छिपा होता था, जिसे हँसी-हँसी में प्रायः कोई देख न पाता था ...!

परन्तु कुछ टीचर ऐसे भी थे, जो गम्भीरतापूर्वक और समय लगाकर इन उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच करते थे। लाल पैन से गलती पर निशान लगाते और कुछ तो सही करके भी लिख कर देते या आवश्यक

निर्देश देते। पर कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि किसी टीचर ने यह बताया ही नहीं कि किस कारण उसने किसी को कम नम्बर दिए क्योंकि उत्तर-पुस्तिका में कोई गलती न निकालने के बावजूद नम्बर काटे होते थे। ऐसी स्थितियों में संबंधित बच्चा कई बार उनसे जवाब - तलब भी करता। पर प्रायः बिना ठीक से यह समझे कि वह कहाँ चूक गया है या गई है; उसे हार मान लेनी पड़ती थी और फिर अपने कम नम्बरों को अपनी नियति मान स्वीकार कर लेना पड़ता था। पर कुछ बच्चे इन स्थितियों में अपने नम्बर बढ़वा पाने में भी सफल हो जाते थे। चैक हुई उत्तर-पुस्तिका मिलने पर कुछ बच्चे आपस में तुलना करते हुए एक-दूसरे के उत्तर मिलाते तक थे, ... तो कुछ एक-दूसरे से छिपाते भी थे।

स्कूल की बड़ी कक्षाओं में कुछ विषयों में उत्तरों की लम्बाई ज्यादा मायने नहीं रखती थी। बल्कि अब संक्षिप्त में, चतुराई से, टू-दी-पॉइंट उत्तर देने की कला में प्रवीणता पाना अच्छा समझा जाता था (बल्कि जरूरी हो गया था)। इस कला को सीखने में, आरम्भ में, काफी मशक्कत करनी पड़ी।

पर कॉलेज में जब मैंने इतिहास (विशेष) में प्रवेश लिया तो अलग तरह का अनुभव हुआ। स्कूल के अंतिम वर्षों में बड़ी मेहनत से सीखी गई, संक्षेप में कहने की क्षमता को यहाँ छोड़ना पड़ा। अब गुणवत्ता तो महत्त्वपूर्ण थी ही, पर साथ ही मात्रा भी पुनः महत्त्वपूर्ण बन गई थी। दोनों का संतुलन बनाकर चलने में मैं काफी चकरायी। कई बार मुझे निराशा हाथ लगी और मैं समझ नहीं पाती थी कि मैं कहां चूक जाती हूँ। फिर फाइनल ईयर की एक सीनियर ने मुझे सलाह दी कि अपनी गुणवत्ता भले ही बनाए रखो; पर अधिक लिखने की, शीटें भरने की आदत भी डाल लो। खूब लिखो, खुल्लम-खुला और बड़ा-बड़ा। अब यह 'खूब लिखो' शब्द भी मेरे मानसपटल पर अंकित हो गए और गुणवत्ता बरकरार रखते हुए मैंने धीरे-धीरे अपनी लिखने की गति बढ़ाने और 'खूब लिखने' की आदत डालने के प्रयत्न शुरू कर दिए। इसमें मुझे धीरे-धीरे ही सफलता मिली और ग्रेजुऐशन के अंतिम वर्ष तक

आते-आते ही मैं इसमें कुछ सफलता पाने लगी। और कालेज के अपने अंतिम इम्तिहानों में मैंने पुनः 'मात्रा' देवी का नाम जपा और 'खूब लिख' डाला। पर साथ ही गुणवत्ता भी बरकरार रखनी थी। और इस प्रयास में मैं थक कर चूर हो गई। .....

अंततः मात्रा (Quantity) ने इस बार अपना करिश्मा दिखलाया। मैंने गुणवत्ता तो पहले भी, कई बार, बढ़िया रखने का प्रयास किया था। परन्तु इस 'मात्रा' से चूक जाती थी। पर इस बार मैंने खूब शीटें भी भरीं थीं। नतीजा सामने था। मुझे अच्छे नम्बर मिले। जिस दिन परीक्षा परिणाम देखा और उसपर विचार किया; तो अचानक मेरे सामने वह दृश्य उपस्थित हो गया, जो बचपन में होता था..... तीस-चालीस बच्चों की कुछ शोर मचाती क्लास और सामने बैठे, हथेली व उंगलियों से उत्तरों को नापते-मापते हमारे वह टीचर.....। यह दृश्य एक फलैश की तरह दिमाग में एक बार कौंधा और जल्द ही मिट गया और मैं मुस्करायी... ..। आखिर थी तो वही व्यवस्था न!

● ● ●

बदलता माहौल

बच्चों की परस्पर तुलना करना, उनमें भेदभाव, प्रतिस्पर्धा आदि विद्यार्थियों में आपसी ईर्ष्या-द्वेष, एक-दूसरे से झूठ बोलने, अपनी बात छिपाने, एक-दूसरे को नीचा दिखाने और कभी-कभी एक-दूसरे को धोखा तक देने जैसी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते हैं। बाहरी तौर पर भले ही हँस-बोल लें, पर फिर भी ऐसी भावनाएं माहौल को अंदर-ही-अंदर कलुषित किए रखती हैं और आपसी रिश्तों में तनाव पैदा करती हैं।

कुछ चारित्रिक हीनता भी न जाने कब, धीरे से, हमारी कक्षा में प्रवेश करने लगी थी। वीभत्स या भद्दे किस्म के मजाकों में यह कभी-कभी सामने आती थी। टी वी, सिनेमा आदि का प्रभाव साफ नजर आता था। कुछ लड़कों में कुछ लड़कियों से छेड़छाड़ करने जैसी प्रवृत्तियां भी उभर रही थी। तब हम नौवीं या दसवीं कक्षा में थे। कुल मिलाकर देखा जाए तो, अबतक हमारे स्वस्थ व पाक-पवित्र रिश्तों की डोर इतनी मजबूत थी कि ये प्रवृत्तियां दबी-दबी ही रहती थी।

..... कुछ समय बाद अपने कॉलेज में जब मैनें 'फैशन शो' या अन्य कुछ आयोजनों में या डांस पार्टी में कुछ लड़कियों को खुलकर शारीरिक प्रदर्शन करते पाया और कुछ टीचरों को ध्यानपूर्वक उन्हें देख-देखकर उनके 'फिगर्स' पर टिप्पणी करते या तालियां पीटते पाया (यद्यपि यह गर्ल्स कॉलेज ही था) ..... तो मैं कुछ देर के लिए तो चौंक उठी थी। फिर धीरे-धीरे मैंने भी समझ लिया कि यह 'नग्न संस्कृति' तो दिल्ली जैसे महानगरों में इतनी सामान्य बात है कि शिक्षण-संस्थानों में इसका प्रवेश कोई आश्चर्य नहीं रह गया। बल्कि अब तो शायद इस सबसे दूर रहने वाले या इसपर नाक-भौं सिकोड़ने वाले लोग 'दकियानूसी' या 'पिछड़े' करार कर दिए जाने पर एक कोने में

उपेक्षित पड़े रहने के आदी हो गए हैं पर यह सब देखकर मन में टीस जरूर उठती थी कि आखिर एक औरत का अर्थ प्रदर्शन योग्य वस्तु ही तो माना गया है और आज की कई युवतियों ने इस भूमिका को सहर्ष स्वीकारा है!

● ● ●

राखी

स्कूल में हमारी कक्षा के बच्चे राखी का त्यौहार काफी हँसी-खुशी मनाते थे। लड़कियां राखियां, मिठाई, टॉफियां आदि लाती थी। खाली पीरियड या आधी छुट्टी (खाने के समय) का हमें बेसब्री से इंतजार रहता था। और फिर हँसी-मजाक के माहौल में लड़कों की कलाइयों पर सजती थीं सुंदर-सुंदर राखियां। अधिकतर लड़कियां बाजार से ही सुंदर-सुंदर राखियां या धागे खरीदकर लाती थीं; पर कुछ ऐसी भी थीं जो बड़े प्यार से और बड़ी लगन से स्वयं अपने हाथों से राखियां बनाकर लाती थीं। कई बार ऐसी भी कोशिश रहती कि किसी लड़के की कलाई सूनी न रहने पाए। किसको अधिक राखियां बंधेगीं, इसको लेकर लड़कों में उत्सुकता रहती थी। कुछ लड़कों को तो इतनी राखियां बंधती कि उनके दोनों हाथ पूरे भर जाते थे।

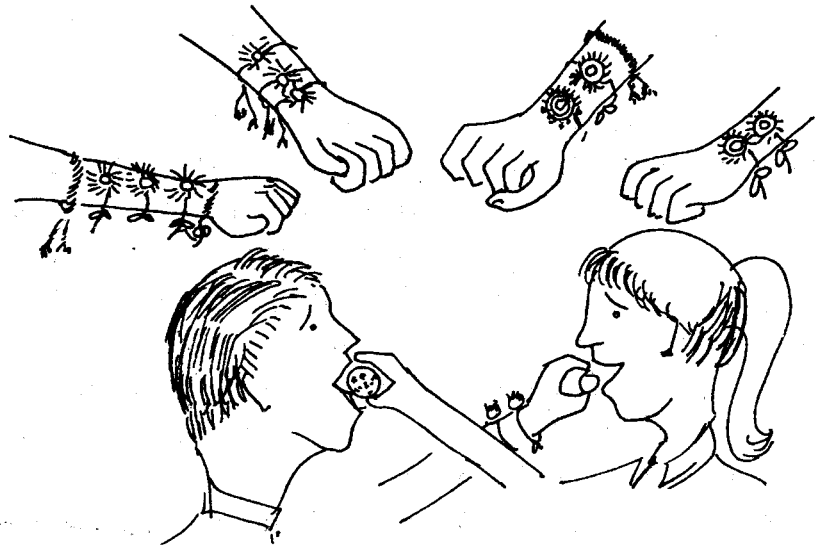

● ● ●

तथाकथित 'बिगड़े हुए'

[यहां जो आरम्भ का मुख्य दृश्य प्रस्तुत है, वह मेरा दसवीं कक्षा का एक अनुभव है। पर तथाकथित 'बिगड़े हुए' बच्चों के जो उदाहरण मैंने लिए हैं, वे स्कूली जीवन के अलग-अलग समय में हुए मेरे कुछ अनुभवों पर आधारित हैं। आरम्भिक दृश्य में जो बच्चे मुझसे सवाल पूछते हैं, वे भी उसी तथाकथित 'बिगड़े हुए' की श्रेणी के माने जाते थे। पर जिनका विस्तृत विवरण दिया गया है, वे उसी श्रेणी के केवल उन बच्चों पर आधारित अनुभव हैं, जिनके बारे में मैं विस्तार से कुछ जान पायी।]

"आपने हमारे बारे में ऐसा क्यों कहा?" - कुछ-कुछ ये ही शब्द थे जो हरविंदर, सुहेल, आशीष और सहजल ने मुझसे कहे थे। और मैं अचानक उनका यह प्रश्न सुनकर चौंक उठी थी। ...वे मेरे और मेरे साथ बैठी मेरी सहेली के सामने घेरा बनाकर खड़े हुए थे। उनके पीछे रमेश आँख चुराने का प्रयास करते खड़ा था। "ऐसा क्यों कहा आपने?" -आशीष ने पुनः बड़ी शालीनता से पूछा और इस प्रश्न ने मेरे कानों पर हथोड़े की तरह वार किया .....।

"मैं, ...मैं, दरअसल... वो...।" मुझसे कुछ कहते न बना। और वास्तव में मुझे लगा कि उनके प्रश्न का मेरे पास कोई उत्तर न था। मैं बेचैन हो चली थी। मेरे सामने खड़े थे, बड़े और लम्बे-चौड़े चार लड़के; जो अपनी तथाकथित (!) आवारागर्दी, अनुशासनों की अवहेलना करने, पढ़ाई में ध्यान न देने, टीचरों की परवाह न करने..... आदि के लिए 'कुख्यात' थे। इनमें से तीन तो उम्र में भी काफी बड़े थे और दो-तीन बार फेल हो चुकने के कारण अभी तक इस कक्षा में थे।

हरविंदर को अधिकांश समय क्लास 'बंक' करके आवारा घूमते देखा जा सकता था। लड़कियों को देख-देखकर फब्तियां कसना या छेड़छाड़, अन्य लड़कों पर धौंस जमाना, फिल्मी-गीत गुनगुनाना और इधर-उधर बातों में समय गुजारते रहना स्कूल में उसकी दिनचर्या थी। कई बार टीचर्स उसे डांटते, मारते, उसके घर शिकायत भेजते; पर

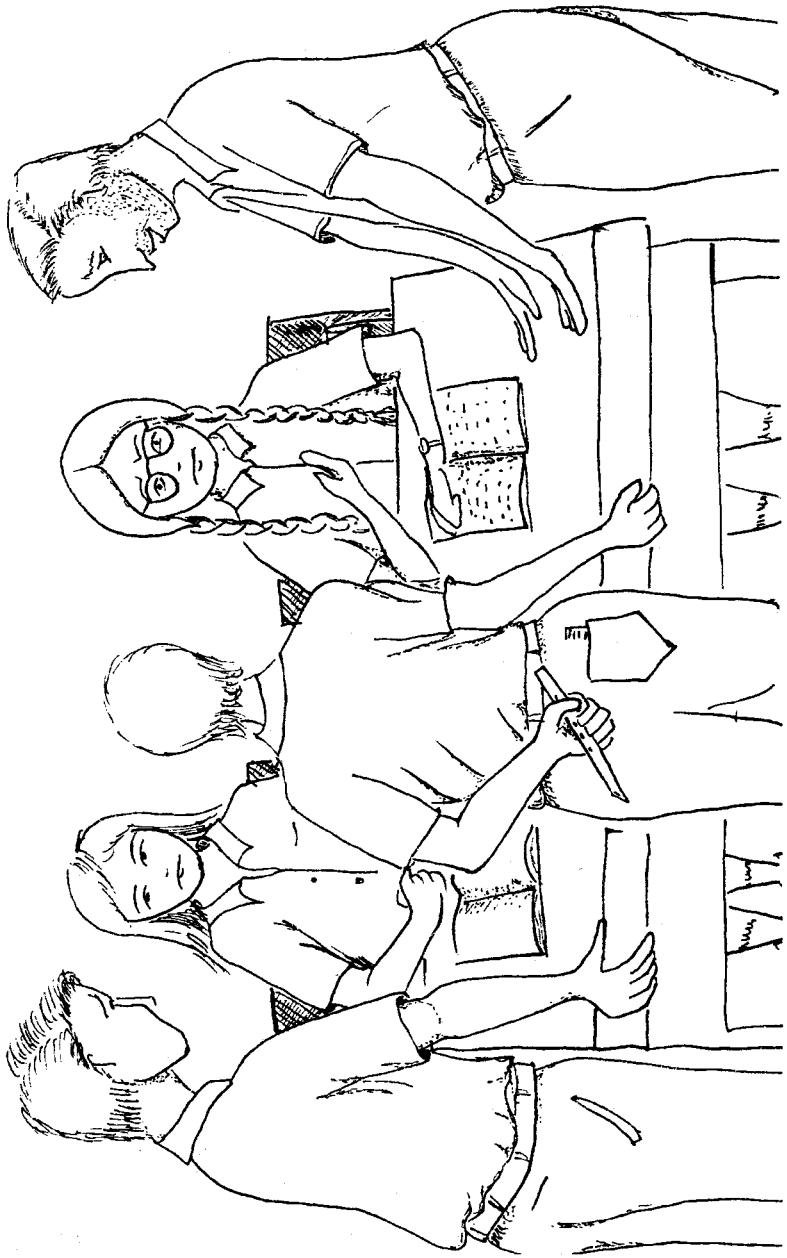

हरविंदर पर असर न पड़ता था। टीचरों की डांट-डपट को वह सह नहीं पाता था और कई बार पलट कर तीखे स्वर में जवाब भी देता था। इसे उसकी बद्तमीजी कहा जाता था। वह प्रायः सुपारी या चियुंगम आदि चबाता रहता था और अपने में मस्त रहता था। कभी-कभी आते-जाते किसी न किसी को छेड़ देना या हल्का-सा थप्पड़ लगा देना भी उसकी मानो आदत थी। पढ़ने-लिखने में उसकी रूचि न थी; पर उसका दिमाग तेज था। जब कभी रोचक ढंग-से, पहेलीनुमा अंदाज में कोई सवाल पूछा जाता, विशेषकर ऐसा सवाल जिसका रोजमर्रा के जीवन से कोई ताल्लुक हो; तब वह झट-से उसका प्रायः सही उत्तर दे देता था (अगर वह उस समय कक्षा में उपस्थित हो तो)। वह उन छात्रों में से था, जिनके बारे में अधिकांश टीचर्स सोचना छोड़ चुके थे क्योंकि उन्हें 'बेकार' और 'बिगड़े हुए' के खिताब शायद हमेशा के लिए मिल चुके थे। पर यही हरविंदर कितना लायक था, कितना अनुभवी और प्रतिभावान, इसका प्रमाण देती थीं- उसकी लिखी कविताएं। उसने कई कविताएं लिखी थीं। तुकबंदी कर पाने की क्षमता और भाषा पर उसकी जबरदस्त पकड़ का प्रमाण तो वे थी हीं; साथ ही यह सोचकर आश्चर्य होता था कि इस कच्ची उम्र में भी समाज, देश, दुनिया की इतनी गहरी पकड़ उसे कहाँ से और कैसे हो गई होगी। थोड़ी बहुत उसकी लिखी जो कविताएं हमतक पहुंची; उनमें जीवन के, समाज के कई कटु सत्यों का उल्लेख था, आज की व्यवस्था पर काफी व्यंग्य किए गए होते थे, देश-समाज की कुछ कुरीतियों पर तीखी चोट की गई होती थी। ऐसा जान पड़ता था कि उसे समाज में काफी कड़वे अनुभव हुए हैं, वह संवेदनशील रहा होगा और अंदर से आहत था। उसकी कविताओं का व्यंग्य सशक्त होता था - आज के माहौल पर, तीखा व्यंग्य और कहीं-कहीं तो मजाकिया लहजे में कुछ अभद्र या भद्दा सा जान पड़ने वाला हास्य-व्यंग्य भी। पर होती वह सच्चाई थी। साफ-सटीक, तीखे शब्दों में प्रकट सत्य। कभी-कभी उकसाये जाने पर वह कक्षा में अपनी कविताएं पढ़कर सुनाता था और कभी कुछ दूसरे बच्चे उसकी कविताएं हम तक पहुँचाते थे। ऐसा जान पड़ता था कि ऊपर से शुष्क व कुछ

कठोर से लगने वाले इस लड़के के मन में कहीं न कहीं कोई गहरा दर्द छिपा है। मानो आज की व्यवस्था या माहौल उसे अंदर ही अंदर खाये जा रहा हो और इस माहौल में रम न पाने या इससे समझौता न कर पाने के कारण वह कुछ अलग-सा पड़ गया है और इसीलिए समय-समय पर वह अपना गुस्सा या आक्रोश प्रकट करता है...अपने व्यवहार से ...अपनी रचनाओं में प्रकट तीखे व्यंग्यों से...। कभी-कभार उसकी एकाध रचना किसी टीचर तक भी पहुँची। एक-दो टीचरों ने कभी-कभी उसकी सराहना भी की। पर टीचर जगत से हरविंदर का स्वस्थ संवाद कभी नहीं बन पाया और वह मूलतः टीचरों द्वारा अपमानित व ठुकराया हुआ ही रहा। वही हरविंदर आज मेरे सामने खड़ा हो मुझ से पूछ रहा था - ''आपने हमारे बारे में ऐसा क्यों कहा?''

और वह आशीष...। वह भी 'बिगड़ा हुआ', 'नालायक' और 'बेकार' करार कर दिया गया था। कद-काठी में वह लम्बा-चौड़ा, हट्टा-कट्टा और काफी भारी-भरकम डील-डोल वाला था। उसके बाल ज्यादातर भयानक ढंग-से उलझे रहते थे और बढ़े हुए थे। आंखे कई बार लाल-लाल सूजी हुई रहतीं और कुछ बच्चों को उससे डर लगता था। जब वह बोलता तो लगता मानो गुस्से से गरज रहा है और जब कभी वह वास्तव में गुस्से में आ जाता, तब समझो किसी न किसी लड़के की तो शामत आएगी ही और वह उस लड़के की ठुकायी करेगा। पता नहीं कभी-कभी वह हिंसक क्यों हो जाता था! वह दो-तीन बार फेल हो चुका था और अपने साथ बस एक छोटी-सी कॉपी लेकर और एक-दो फटी-पुरानी किताबें लेकर ही स्कूल चला आता था। कक्षा में वह कई बार अनुपस्थित रहता और जब कभी होता तब भी पीछे की एक पूरी सीट पर आराम से पसर कर, आगे चल रही गतिविधियों से बेखबर... अपने में खोया हुआ-सा। ...पर वह गीत अच्छे गाता था। उसकी मुख्य खासियत थी गीतों के साथ-साथ, उसका डेस्क पर हाथ से थाप देकर ढोलक बजाना। वह गजब की ढोलक बजाता था। हाथ से डेस्क पर थाप देते हुए वह गाने से बिल्कुल मिलती-जुलती ताल दे पाता था, जिससे जादू-का सा असर होता था! उसकी ढोलक की थाप

पर कई बच्चे मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे। एक बार एक टीचर ने भी उससे एक गीत व डेस्क पर बजती थाप सुनी और उसकी काफी प्रशंसा भी की। वह खुश हो गया और फिर क्या था, उस दिन, दिनभर (सौभाग्य-से उस दिन काफी खाली पीरियड थे) उसके संगीत का समा क्लास में बंधा रहा। कभी-कभी वह सीटी बजाकर भी कुछ गानों की अच्छी धुन निकाल लिया करता था। पर उसकी इस प्रतिभा को स्टेज पर, सारे स्कूल के समक्ष आ पाने का मौका कभी न मिला। कुछ तो वह भी स्कूल की गतिविधियों की ओर से उदासीन रहा, कुछ स्कूल ही इस 'बिगड़े हुए' (!) बच्चे की ओर उदासीन रहा। उसके इस हुनर का जादू हमारी कक्षा तक ही सीमित रह गया।..... वही आशीष आज मुझसे पूछ रहा था - "ऐसा क्यों कहां आपने?"...

आखिर बात क्या थी? हुआ कुछ यूं था कि... रमेश का आजकल अधिक समय इन तथाकथित 'बिगड़े हुए' बच्चों के समूह में रहना, हमें खलने लगा था। रमेश पहली कक्षा से हमारे साथ पढ़ता था। शरारती तो वह शुरू से था। पढ़ने-लिखने से कुछ जी-चुराने वाला भी था। पर था वह हमारा साथी ही। मजाकिया था। हमें बहनें मानकर हमसे मजाक कर हमें रूलाने-मनाने वाला, नटखट-सा रमेश। उसकी मम्मी हमेशा उसे लेकर चिंतित रहती थीं और कई बार स्कूल आकर उसके कुछ साथियों से उसे समझाने को कहती रहती थीं। अपनी मम्मी के समक्ष वह हमारे सामने कई-कई कसमें खाता था... शैतानी छोड़ने की, पढ़ाई में मन लगाने की। पर फिर अगले ही पल किसी नई शैतानी में उलझा हुआ मिलता था। डाँट पड़ने पर वह जिस तरह रुआंसा होकर हमारे सामने आता था, उससे हम पल भर के लिए तो, उसकी रोनी सूरत देख, हँस ही पड़ते थे। पर फिर सम्भल कर कुछ बच्चे उसे समझाया-बुझाया करते। खैर, कुल मिलाकर उसे हम सब पसन्द करते थे और उसकी हमें चिंता रहती थी। कभी-कभी तो उसके कुछ... दयालु साथी झूठ बोलकर उसे डाँट या मार से बचाया भी करते थे। पर जैसे-जैसे... बड़ी कक्षाओं की पढ़ायी का बोझ हम पर बढ़ता गया, ... रमेश हमसे दूर होता चला गया। और अब उसकी नई संगत थी ...इन

तथाकथित 'बिगड़े हुए' बच्चों का ग्रुप। ये सब मिलकर कक्षा तो क्या, कभी-कभी स्कूल तक से भागकर बाजार में घूमा फिरा करते थे। कुछ लड़कियों पर फब्तियां कसना, बार-बार अनुशासन तोड़ने आदि में अब रमेश का मन भी खूब रमने लगा था और कभी-कभी तो झगड़ा होने पर, वह आजकल तोड़-फोड़ या मार-पीट तक करने लगा था। टीचरों की डाँट-फटकार भी उसपर अब अधिक बरसने लगी थी। उसकी मम्मी भी अधिक चिंतित नजर आने लगी थीं और हम सब उससे दूर होते जाने के कारण खिन्न-से थे। ...इसी माहौल में उस दिन रमेश क्लास बंक कर बाजार जाकर कुछ खाने-पीने का सामान ले आया था और अपने नए ग्रुप के साथ मस्ती करता हुआ कोल्ड-ड्रिंक आदि का लुत्फ उठा रहा था। उसे यूं करता देख..... अचानक वहां से गुजरते हुए, मेरे मुँह से निकल गया था -"रमेश! तो तू भी अब इनके साथ रह-रहकर बिगड़ गया है!"... यह मेरी खीझ थी, रमेश के लिए ...।

एक तथाकथित 'सभ्य' (!) व नैतिक समझे जाने वाली स्टूडेंट की खीझ! अनचाहे रूप से ही सही, पर मेरे इस वाक्य में छिपी तो उलाहना भी थी ...उस ग्रुप के लिए...। 'इनके' शब्द में शायद उन्हें अपने लिए घृणा का आभास मिला होगा और 'बिगड़ गया' शब्द साफ तौर पर उनके लिए करार किया गया विशेषण था, जिन्हें स्कूल में कई लोग कहा करते थे।

पर मैंने सपने में भी न सोचा था कि उन्हें ये शब्द इतने चुभ जांएगे और वे मुझसे आकर यूँ पूछेंगे... "आपने हमारे बारे में ऐसा क्यों कहा?"

मैं अंदर तक हिल गई थी। उन्हें कुछ अलग और बिगड़ा हुआ तो सभी ठहराते थे, पर जो बात उन्हें चुभ रही थी... वह थी - एक संवेदनशील नैतिक मानदण्ड रखने वाली, तथाकथित 'सभ्य' छात्रा का यूँ कहना! ...उन्हें शायद याद रहा हो कि मैंने उनकी कविताओं, उनके गीतों, उनकी खूबियों को उत्साह से देखा-सुना था ...उन्हें शायद लगता हो कि मेरे लिए किसी का नालायक या उद्दंड होना ही उसकी एकमात्र पहचान नहीं रहा था, उन्हें शायद मेरी वे आँखे या मेरा वह चेहरा भी

याद रहा हो, जो उनपर हर गलती के लिए बेवजह शक होता देख या उन्हें जरूरत से ज्यादा डाँट या मार पड़ती देख उदास हो जाता था... जो मूक रहकर भी मानो उनसे संवेदना दिखाता हो... या फिर मेरा व मेरे साथ बैठी सहेली का कभी-कभी किसी नैतिक बात के लिए संघर्ष करना... शायद उन्हें याद रहा हो...।

खैर, कारण चाहे जो भी रहा हो, पर अब वास्तविकता यह थी कि उन्होंने बड़ी शालीनता के साथ अपनी नाराजगी मेरे सामने जाहिर की थी - "आपने हमारे बारे में ऐसा क्यों कहा?"

...और मैं कोई जवाब न दे सकी थी। चुप रह गई थी। ...जवाब मेरे पास था ही नहीं।

"वो... वो..." - कुछ देर रुककर मैं हकलायी - "मैं तो रमेश को कह रही थी ...कि वह अब सम्भल जाए...।" - मैं एक और गलती कर बैठी।

"हम नहीं सम्भले हुए क्या?" - सुहेल ने मानो तोप का गोला छोड़ा। ...और फिर, ''चलो यार ...यहाँ से चलो...।" यह कहते हुए वे चले गए। रमेश भी उनके पीछे चला गया। मैं वहीं जमी बैठी रह गई! जाते-जाते उनकी निगाहों में अपने लिया खोता हुआ सम्मान देख, मैं सिहर उठी थी।...

हाँ, मैं अपराधी थी...। मैं ही बिगड़ गई थी आज, वे नहीं...! सम्भल तो मैं नहीं पायी थी! असभ्य तो मेरी भाषा हो गई थी आज क्योंकि मेरे शब्दों से उनका दिल दुखा था। ...उनका विश्वास तोड़ा था मैंने। उन्हें समझ नहीं पायी थी 'मैं'। हाँ 'मैं'... जो आदर्शों का दंभ भरती थी! उन सतही व खोखले आदर्शों का, जो तथाकथित 'सभ्य' समाज के दायरे में ही पनपते हैं, किताबी बातों पर ही आधारित होते हैं और तंग-दिली के परिचायक होते हैं।...

आज जब याद करती हूँ, तो वे आजाद परवाने मुझे कई मायनों में अपने आप से ऊँचे उठे मालूम पड़ते हैं। उनमें हिम्मत थी... आजाद दिल था उनका, आजाद ख़्यालात थे..., जो खुल कर नकारते थे 'तथाकथित' अनुशासन को, अन्याय पर आधारित व्यवस्था को...। पर

उचित मार्गदर्शन न मिल पाया, समय रहते उन्हें कोई समझ न पाया.. .; इसलिए 'आवारा' हो गए थे वे..., कुछ वासनाओं में डूब गए थे...।

कहीं न कहीं उनके इस 'बिगड़ने' (!) में हम सबका हाथ था, समूचे बिगड़ते समाज का ...बिगड़ती व्यवस्था का हाथ था...। ...और आज, इतने सालों बाद, जबकि मैं जान चुकी हूँ, सुन चुकी हूँ कि हरविंदर आत्महत्या कर चुका है (उसकी आत्महत्या करने की खबर तो मिली, पर कारणों का पता नहीं चला। क्या वे कोई निजी पारिवारिक कारण थे, या फिर अपने माहौल, अपने अनुभवों से जनित उसकी कुंठाए ...उसका गुस्सा ...कुछ पता नहीं चला...) ...जबकि मैं सुन चुकी हूँ कि रमेश आज नशा करता है ...आवारा फिरता है ...तो क्या इस सबके लिए समूचा समाज, समूची शिक्षा व्यवस्था और अपने समूचे विचारों-भावनाओं के साथ 'मैं' - हम सब अपनी जिम्मेदारी नहीं कबूलेंगे?... मैं कबूलना चाहती हूँ ...अपनी जिम्मेदारी। मैंने भी तब उन्हें समझने में भूल की थी या पूरी तरह समझना नहीं चाहा था...। मैं भी उनकी गुनहगार हूँ।

● ● ●

खाली पीरियड (फ्री टाइम)

'खाली पीरियड' - ये शब्द कानों में कितने मधुर सुनाई पड़ते थे। सिर पर पड़ा बोझ कुछ समय के लिए हल्का जान पड़ता था! निरन्तर आदेशों का पालन करते, अनुशासन के बंधनों में अपने व्यक्तित्त्व को मसलते हुए ...कई बार हम थक जाते थे। ऐसे में खाली पीरियड का हमें बेसब्री से इंतजार रहता था। कोई टीचर न आए, वह आकर जल्दी घर लौट जाए या किसी अन्य काम से कहीं चला जाए या वह स्कूल की किसी अन्य गतिविधि में व्यस्त हो जाए अथवा टीचरों की मीटिंग चल रही हो...; तो ऐसे मौकों पर हमें यह आजादी मिलती थी।

हमारी कक्षा में बकायदा कई बार इस बात की खुशी मनायी जाती थी (हो-हल्ले के रूप में हर्षोल्लास प्रकट करके) कि कोई टीचर नहीं आ पाया। कुछ बच्चे इसके लिए अपने मनगढ़ंत कारण खोजते-फिरते थे और फिर अन्य बच्चों को सुनाकर हँसाते थे। कुछ टीचरों को हम इस कदर नापसन्द करते थे कि यह सुनने पर कि वे बीमार हैं या लम्बी छुट्टी पर गए हैं... हम खुशी से फूला न समाते थे और उनका मजाक उड़ाया करते थे! यहाँ तक की कभी-कभी कुछ बच्चे यह तक कह डालते थे कि अच्छा ही है... फलाने सर लम्बे समय तक बीमार ही रहें ...। बाल या किशोर मन कुछ बुरी कल्पनाओं से तसल्ली पाता था क्योंकि वह बंधनों से अभी-अभी कुछ समय के लिए आजाद हुआ होता था। (मैंने स्वयं भी कभी-कभी कुछ टीचरों के बारे में इस प्रकार की बुरी कामनाएं व्यक्त की थीं। उस समय ऐसा करके मुझे काफी सांत्वना मिलती थी!)

खैर, कुछ टीचरों ने इन खाली पीरियडों में भी अपना खौफ बनाए रखने का इंतजाम किया हुआ था और प्रायः यह काम मॉनीटरों से कराया जाता था। मॉनीटर का दर्जा प्राप्त बच्चा ही अन्य बच्चों का मानो दुश्मन बना खड़ा रहता था। कभी-कभी अन्य बच्चों को उसपर गुस्सा भी आता था या वह कभी-कभी घृणा का पात्र भी बनता था। मगर यदि खाली पीरियडों का समय लम्बा हो तो; प्रायः मॉनीटरी का यह

कृत्रिम अनुशासन भी टूट जाता था और फिर कक्षा में उन्मुक्त हवा बहने लगती थी। हमारी कक्षा शोर मचाने के लिए काफी विख्यात थी और इसीलिए प्रायः टीचरों के कोपभाजन का शिकार बना करती थी।

इस खाली समय में मौका मिलने पर हम खूब बातें करते थे (घर की बातें, 'बड़ों की दुनिया' की शिकायतें, पाठ्यक्रम के बोझिल होते जाने या परीक्षाओं की चिंता पर चर्चा, फिल्मों या गीतों की बातें, फैशन-कपड़े-खाने-पीने की बातें, हमारे सपने, हँसी-मजाक, चुटकले, एक-दूसरे की चुगली, कुछ टीचरों की बुराईयां, सहपाठियों से छेड़छाड़, रूठना-मनाना आदि-आदि)। गाने गाना, अंताक्षरी खेलना, ज़ीरो-काटा खेलना, अगर आस-पास का कॉरीडोर खाली हो तो बाहर घूमना, स्टापू खेलना, कई किस्म के मौलिक नाटकीय खेल, चुटकले-पहेलियां, किस्से-कहानियाँ कहना, दीवारों-ब्लैकबोर्ड-डेस्क या किताब-कॉपियों पर मजेदार चित्र बनाना, हँसना-हँसाना... आदि... इन सबका दौर चलता था।

कुछ टीचरों पर अपना गुस्सा निकालने के लिए हम तरह-तरह से उनकी नकल किया करते थे। इसमें प्रायः सभी को मजा आता था। मुझे याद है मैं एक-दो बच्चों के साथ यह मजाक किया करती थी कि एक टीचर जो काफी सख्त थे और जिनकी मोटी-सी तोंद थी; उनके बार में हम कहते कि पहले कक्षा में उनकी तोंद प्रवेश करती है, फिर वे स्वयं, बाकी शरीर के साथ...!

बच्चे मन-माफिक कुछ ग्रुपों की रचना कर लेते थे या कहीं-कहीं दो की जोड़ी ही मजे लेती दिखती। बातें करते-करते कुछ बच्चे अपने अधूरे होमवर्क भी पूरे कर लिया करते थे। आपसी छेड़-छाड़, किसी की चीज लेकर भागना, फिर उसका पीछे भागकर पकड़ना... कभी-कभी आपस में लड़ाई, हाथा-पायी तक और फिर रूठने-मनाने का सिलसिला. ..।

इस समय अनजाने रूप से, सहज माहौल में हम कई बार नई-नई बातें सोच लिया करते थे, हमारी कल्पनाएँ कई उड़ाने भरती थीं और कुछ रचनात्मक काम भी होते रहते थे। जैसे, अपनी कल्पना से कोई

नाटकनुमा खेल बना डालता, तुकबंदियां करके कविता या छोटे-छोटे छंद बना डालना, कोई क़ाल्पनिक कहानी सुना डालना, कागजों या तीलियों आदि से कोई नई सजावटी वस्तु तैयार कर देना, गीतों की पैरोडी बनाना आदि। सब कुछ सहज रूप में सामने आता था और कभी-कभी तो स्वयं हमें भी हैरानी होती कि देखो बात ही बात में क्या बढ़िया चीज बन गई या क्या बढ़िया आईडिया आ गया...। बचपन से ही हमारे साथ एक लड़का पढ़ता था, जो पढ़ाई-लिखाई में तो कमजोर समझा जाता था; पर उसमें हाथ का हुनर था। क्लास का उपेक्षित-सा लड़का था वह। प्रायः खाली पीरियड में वह झाड़ू की तीलियों या कंकड़-पत्थर आदि से आकर्षक चीजें बनाने में व्यस्त रहता था। प्रायः वह इमारतों के ढ़ाचेनुमा चीज बनाता। अपने इस काम में उसकी लगन, तल्लीनता व मेहनत देखने लायक थी। उसकी इस रचनात्मक प्रतिभा में इंजीनियरिंग क्षमताएं भी दृष्टिगोचर होती थीं। प्रायः टीचर के क्लास में प्रवेश करते ही वह अपनी लगन से तैयार कृति को क्षण-भर में मिटा कर सीट के एक कोने में दुबक कर बैठ जाता था।

टीचर कब आ धमकेंगे, इसका खौफ तो हममें से कुछ को बना ही रहता था। इसलिए कुछ बच्चे बाहर चहलकदमी करते रहते ताकि दूर से आते टीचरों को देख समय पर इत्तला कर सकें। जब क्लास मस्त होती और खूब शोर हो रहा होता; तो अचानक किसी बच्चे या कुछ बच्चों का दौड़ कर अंदर आना और चिल्लाना - "मैडम आ रही हैं।" या "सर आ रहे हैं।"... यह दृश्य काफी सामान्य था। कई बार तो सच में ऐसा होता था और बच्चे उस सहपाठी के शुक्रगुजार होते थे, जिसने उन्हें समय रहते सूचना दे दी और इस प्रकार सावधान हो जाने का मौका दिया। और फिर... टीचर के प्रवेश करते ही सब अनुशासन की मूरत बन खड़े हो जाते थे। पर हुआ यह कि कुछ बच्चों को लगा कि यह भी एक अच्छा खेल हो सकता है। अतः कभी-कभी वे झूठमूठ ही भागकर आते, यह चिल्लाते हुए कि "अरे, मैडम आ रही हैं।"... और फिर सब हड़बड़ी में सम्भलते, ...दो-तीन मिनट तक चुप्पी छायी रहती और फिर वह बच्चा अपनी सीट से उठकर आराम-से बाहर जाता हुआ कहता -

"अरे, मैं तो मजाक कर रहा था!" या फिर वह हमारे सांप सूंघ गए चेहरों को देखकर हँस पड़ता ..... तो उसका यह नाटक खुल जाता। फिर सब उसपर चिल्लाते, कुछ खीझते, एक-दूसरे पर हँसते!...

ये खाली पीरियड सच में बड़े मजेदार हुआ करते थे। पर जब कभी लाइट गई हो और खूब शोर मच रहा हो; तो कुछ बच्चों की हालत बिगड़ जाती थी और कभी-कभी उन्हें सिरदर्द हो जाता।...

● ● ●

सरकारी स्कूलों का रख-रखाव

मैं सरकारी स्कूलों में भी जो अपेक्षाकृत बेहतर सरकारी स्कूल माने जाते है, उनमें से एक में दसवीं तक पढ़ी थी। हालांकि यह सामान्य सरकारी स्कूलों में से बेहतर हालात के स्कूलों की गिनती में आता था; पर पर्याप्त स्वच्छ जल और साफ-सुथरे शौचालयों का समुचित प्रबंध कभी नहीं मिलता था। पता नहीं इनके लिए कोई गंभीर प्रयास होता भी था या नहीं। जब कभी पीने के पानी की हालत काफी बिगड़ जाती, तब यह घोषणा होती थी कि बच्चे, बेहतर है अपनी बोतल ही साथ लाएं। पर सभी बच्चे ऐसा न कर पाते थे और फिर वे या तो अपने किसी सहपाठी की बोतल पर निर्भर रहते या फिर प्यासे रहते। सामान्य हालात में बच्चे बिना इसकी परवाह किए कि पानी वाले स्थान के आसपास पर्याप्त सफाई है या नहीं, पानी पीते थे और इस पानी की ही आदत-सी हो गई थी। स्कूल के एक-दो विशिष्ट स्थानों (जैसे लाइब्रेरी के निकट या प्रिन्सिपल ऑफिस के निकट) पर एक-दो वॉटर कूलर भी लग गए थे और बच्चों में उससे पानी पी आने की होड़ लगी रहती थी।

अपनी कक्षाओं की सफाई तो बच्चे बारी-बारी से स्वयं ही करते। मैदानों की सफाई कर्मचारी करते या कभी-कभी सजा के तौर पर बच्चों से मैदान साफ करवाए जाते।

यह सोचकर हैरानी होती थी कि शौचालयों की सफाई कौन करता था! क्योंकि आमतौर पर शौचालय काफी गन्दे मिलते थे। काफी दिनों तक उनकी वैसी गन्दी हालत ही बनी रहा करती थी। कुछ बच्चों में भी गंदगी फैलाने की बुरी आदत थी और कुछ बच्चे शौचालयों की दीवारों पर भी चॉक या पैन-पैन्सिल से कुछ न कुछ लिखते या चित्र बनाते थे। जितना भी कहा जाए, कुछ बच्चे इस प्रकार की आदतों से बाज नहीं आते थे। स्कूल में पर्याप्त डस्टबिन या कूड़ेदानों की भी कमी खलती थी।

मान लीजिए किसी बच्चे ने या कुछ बच्चों ने पहल करके इस अव्यवस्था की कोई शिकायत भी की हो; तो भी या तो कोई असर

पड़ता ही न था या फिर कुछ थोड़ी सी सफाई हो जाती और फिर थोड़े-ही दिनों बाद पुनः वही हाल हो जाता था।

जब ग्यारहवीं कक्षा में मैंने स्कूल बदला और मैं एक साधारण-से सरकारी स्कूल में गई तो यहाँ भी शौचालयों का हाल बुरा था। इस स्कूल में बारिशों में, सीढ़ियों के ऊपर की छत भुरभुरी हो जाती थी और कई स्थानों से पानी टपकता था। कुछ कमरों में भी काफी सीलन आ गई थी और जब कभी लाइट चली जाती, तो वहाँ काफी घुटन उत्पन्न हो जाती थी।

लाइट का चले जाना काफी सामान्य बात थी (जो इन दोनों स्कूलों में ही थी)। प्रायः क्लास में ज्यादा बच्चे होते थे और अगर फिर लाइट चली जाए तो काफी घुटनभरा माहौल हो जाता था। और तो और कभी-कभी छोटी (प्राथमिक या आरम्भिक सैकेण्डरी) कक्षाओं में कुछ टीचर अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर किन्हीं दो कक्षाओं को किसी पीरियड में एक साथ बिठा देते। भीड़ बढ़ जाने से घुटन होने लगती और तिसपर अगर ऐसे में लाइट चली जाए तो बस दम घुटने लगता था। कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि तेज गर्मी में भी हमें लगभग सारा स्कूल का समय बिना पंखे के (लाइट नहीं होती तो) गुजारना पड़ता था। कभी-कभी सर्दियों में या बारिश के समय, अगर लाइट न हो तो, कक्षा में अंधेरा-सा हो जाता था और तब पढ़ना कठिन हो जाता। कभी-कभी कुछ पंखे या लाइट या स्विच खराब हो जाते; तो उनको ठीक-करवाने के लिए काफी भागदौड़ करनी पड़ती थी।

प्रायः इन तमाम बातों की शिकायत या तो कोई करता ही नहीं था और यदि करता तो कर्मचारी प्रायः उसे इन निगाहों से देखते मानो कह रहें हो, 'अरे सरकारी स्कूल में तुम्हें अब और क्या चाहिए!' या 'इतना ही बहुत नहीं है क्या!' ..... । वास्तव में देखा जाए तो यदि नगर निगम के कुछ स्कूलों या टैण्टों में चल रहे सरकारी स्कूलों से तुलना की जाए तो हम अपेक्षाकृत काफी बेहतर स्थिति में थे। कोई शिकायत लेकर पहुँचे बच्चों को प्रायः एक कर्मचारी से दूसरे कर्मचारी

तक इतनी दौड़-भाग करवायी जाती, इतनी टालमटोल की जाती कि धीरे-धीरे उस स्थिति की आदत डाल लेना ही बच्चे ज्यादा सरल समझते थे। पर कभी-कभी काफी भाग-दौड़ करने के बाद सफलता भी हांसिल होती और स्थिति में सुधार आता (विशेषकर कोई पंखा या लाइट खराब हो और ठीक करवाना हो तो)।

ये सब कठिनाईयां तो थी हीं। पर ये ज्यादा तब चुभती थी जब कभी अपने स्कूल की तुलना, हम अपने आस-पास बिखरे पब्लिक स्कूलों की स्थिति से करते थे। तब अपने में हीन भावना उत्पन्न होती, कभी-कभी खीझ और गुस्सा भी आता था। पब्लिक स्कूलों की सुंदर इमारतें, खूबसूरत लॉन... हमें आकर्षित करते थे। दसवीं की बोर्ड परीक्षाओं के समय जब हमारा सेंटर एक जाने-माने पब्लिक स्कूल में पड़ा; तो उसे अंदर से देख हम कुछ समय तो चकित रह गए थे। साफ-सुथरी कक्षाएं, कक्षाओं में छोटी अल्मारी, हर कक्षा के बाहर बुलेटिन बोर्ड, साफ-सुथरे चमकते फर्श, साफ शौचालय, साफ पानी का समुचित प्रबन्ध...! यहाँ सब कितना अलग था। कितना बढ़िया!... और इधर हमारा स्कूल! ...और तब अहसास होता था हमारे माँ-बाप के कम आर्थिक स्तर का, ...समाज की विषमता का। मन कभी-कभी बुझ जाता था... तो कभी कुंठित हो जाता था।

● ● ●

कुछ रचनात्मक गतिविधियाँ

पढ़ाई और खेलकूद के अतिरिक्त भी विविध रचनात्मक गतिविधियां - सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रदर्शनी, रचनात्मक लेखन या कविता पाठ, नाटक आदि का आयोजन होता रहता था। अधिकतर यह विभिन्न प्रतियोगिताओं के रूप में सामने आता था।

इनके साथ सहज रचनात्मकता अथवा सृजनशीलता इतनी न जुड़ी थी, जितनी प्रतिस्पर्धा की भावनाएं इन गतिविधियों पर हावी रहती थीं।

हमारे स्कूल की विभिन्न कक्षाएं और टीचर्स विविध 'हाऊसों' में बंटे थे। इन विभिन्न हाऊसों में तीव्र प्रतिस्पर्धा और एक-दूसरे से आगे निकलने की होढ़ लगी रहती थी। यह प्रतिस्पर्धा विभिन्न कक्षाओं के परस्पर रिश्तों, यहाँ तक की कभी-कभी विभिन्न टीचरों के आपसी रिश्तों को भी कितना कमजोर बनाया करती थी; इस बात का अहसास मुझे कुछ बाद में जाकर हुआ। स्वाभाविक रूप से प्रतिस्पर्धा की स्पिरिट का मुझमें अभाव तो था; पर माहौल का मुझ पर असर भी होता था। और किसी सांस्कृतिक कार्यक्रम या प्रतियोगिता में अपने हाऊस को जीतते देख मैं भी खुशी महसूस करती थी। पर इतना संतोष आज अवश्य होता है कि तब भी किसी की हार मेरे लिए प्रसन्नता का कारण नहीं बनती थी, बस अपने हाऊस की 'टीम स्पिरिट से मैं भी उत्साहित, प्रफुल्लित महसूस करती थी। दूसरे हाऊसों के बच्चों या टीचरों को शक-सुबह से देखना तब काफी आम बात थी

सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से कई प्रतिभाएं निखरने का मौका मिलता था। नृत्य, संगीत, अभिनय संबंधी कई प्रतिभाएं उभर कर मंच पर आती थीं और कलाकार को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ दर्शकों का मन मोहती थीं। इसके अतिरिक्त रचनात्मकता चित्रकारी व सृजनात्मक लेखन आदि में मुखरित होती थी।

परन्तु एक होड़ व दौड़ के वातावरण में बड़े औपचारिक तरीके से किसी निर्धारित समय में, प्रतियोगिताएं आयोजित करके 'सृजनात्मक

प्रतिभा' प्रकट करने की जो अपेक्षा की जाती थी; वह कई बार कृत्रिम साबित होती थी। कुछ प्रतियोगिताओं को देखकर तो ऐसा लगता था मानो वह इस अजीब-सी सोच पर आधारित हों कि मानव का मन-मस्तिष्क कोई मशीन है कि जब चाहे 'सृजनशीलता' का बटन दबाओ और वह सक्रिय हो जाए। मुझे तो ऐसा भी कई बार लगा कि कुल मिलाकर यह माहौल किसी संवेदनशील और सहजता को सहेजे रखने वाले व्यक्ति की मौलिक, स्वाभाविक सृजनक्षमता को क्षीण ही करता था।

कई 'तथाकथित' नालायक या बिगड़े हुए या बेकार करार कर दिया गए बच्चों की मौलिक योग्यताएं, प्रतिभाएं दबी ही रह जाती थीं या सीमित रूप में प्रकट होती थी, उन्हें निखरने का या सब तक पहुँचने का मौका अपेक्षाकृत कम ही मिलता था।

● ● ●

हम तब नौवीं या दसवीं कक्षा में थे। हमारी कक्षा के समक्ष उस समय, एक चुनौती यह थी कि हमें भी अपने हाऊस के लिए कोई सांस्कृतिक कार्यक्रम तैयार करना है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के कई आइटम हमारे हाऊस द्वारा भी पेश किए जाने थे। हमें लगा कि हमारी ओर से भी इसमें योगदान होना चाहिए। यह उधेड़बुन चल ही रही थी कि क्या किया जाए; कि तभी एक दिन अदिति ने आकर घोषणा की कि उसने एक नाटक लिखा है, जिसे हम सांस्कृतिक कार्यक्रम में पेश कर सकते हैं। उसने हमें वह नाटक पढ़कर सुनाया। और हम काफी प्रभावित हुए। तब वह नाटक हमारे हाऊस के अध्यक्ष टीचर को दिखाया गया और उन सर को भी वह अच्छा लगा। चूंकि नाटक ग्रामीण परिवेश का था, अतः कुछ संवादों की भाषा बदलकर ग्रामीण शब्दों को डाला गया, ताकि नाटक सजीव लगे। तो हमारे नाटक को हरी झण्डी मिल गई थी!!

अब नाटक में भाग लेने वालों की छानबीन शुरू हो गई। इसमें हमारी क्लास की लड़कियां अधिक चुनी गईं। हाऊस की कुछ छोटी कक्षाओं से भी कुछ बच्चों का चुनाव किया गया। अब अगले दिन से हमें नाटक की तैयारी शुरू करनी थी।

उस दिन अदिति और अन्य कुछ बच्चों ने मिलकर सारी योजना बनायी। सभी के पार्ट निर्धारित किए गए, डायलॉग आदि छांट-छांटकर सबको दिए गए। हम सबमें बड़ा उत्साह था! अपने डायलॉग पढ़-पढ़कर हम खूब मजे ले रहे थे और तैयारी के समय का बेसब्री से इंतजार कर रहे थे। निर्धारित समय पर हम सब सर के रूम के बाहर एकत्र हो गए। हमें यह देखकर भी अच्छा लगा कि हाऊस के कुछ अन्य टीचर भी वहां मौजूद थे और हमारे नाटक को गंभीरता-से ले रहे थे। हमारे अलग-अलग पार्ट पर चर्चा हुई - ...कैसे कोई अमुक पात्र की भूमिका अच्छी तरह निभा सकता है। डायलॉग भली-भांति याद कर लेने संबंधी हिदायतें दी गईं। अनुशासन बनाए रखने संबंधी हिदायतें दी गईं और प्रैक्टिस का समय व स्थान निर्धारित हुआ। उस दिन का समय इसी चर्चा में बीत गया और अगले दिन् के निर्धारित समय से ही तैयारी शुरू हो पायी। शुरू-शुरू में हमें कई किस्म की मुश्किलें आयीं। जैसे, समय पर सबका एकत्र न हो पाना, किसी पात्र का उस दिन स्कूल में ही अनुपस्थित हो जाना (जिसके लिए उसे सबसे झाड़ पड़ती), ग्रामीण बोली बोलने में दिक्कतें आयीं और सहज अभिनय न कर पाना या डायलॉग भूल जाना।

आरम्भ में सर हमें समझाते, आवश्यक निर्देश देते। कभी-कभी डांटते भी। पर धीरे-धीरे उन्होंने वहां आना कम कर दिया और ऐसे में अदिति समेत कुछ बच्चों ने ही नियोजित ढंग-से सब चलाने की जिम्मेदारी उठायी। कभी-कभी ऐसा होता कि नाटक की तैयारी के दौरान बीच में ही कुछ बच्चे आपस में गप्पें मारने लगते या कुछ छोटे बच्चे तो इधर-उधर ही दौड़ जाया करते थे .....। फिर सबको जुटाकर और शांत कराकर पुनः प्रैक्टिस शुरू करने में काफी समय लग जाता था। कभी-कभी हमारा शोर बढ़ जाता और फिर वह तभी थमता जब आसपास की कक्षाओं से बाहर आकर कोई टीचर या किसी टीचर द्वारा भेजा गया बच्चा हमें टोकता। कई बार बातों-बातों में समय का ध्यान ही नहीं रहता था और फिर अगले पीरियड के लिए हम लेट हो जाते थे। ऐसे में कभी-कभी डांट भी पड़ती थी। पर इन सब बाधाओं के

बावजूद हमारी प्रैक्टिस आगे बढ़ रही थी और हम सबको काफी मजा आ रहा था। कभी-कभी हम अपनी तैयारी का स्थान बदलने पर मजबूर हो जाते और उसमें काफी समय नष्ट जाता था।

काफी दिनों बाद जब अचानक एक दिन सर ने बीच में आकर हमारी तैयारी देखी, तो वे कुछ असंतुष्ट हुए। समय अब कम बचा था और हमारी तैयारी में अभी काफी कमियां रह गई थीं। कुछ बच्चों को डांट भी पड़ी। और हम सब अब कुछ चिंतित हो चले थे। खैर, इसका असर यह पड़ा की तैयारी का समय अब कुछ बढ़ाया गया, समय-समय पर हाऊस के कुछ टीचरों को हमारे निर्देशन के लिए भेजना तय हुआ। अब तक इस तैयारी को हल्का लेने वाले बच्चे भी इसके प्रति गम्भीर हो गए।

तैयारी चलती रही..... । सबको जुटाकर और शांत करा कर तैयारी शुरू करने में काफी मशक्कत तो अभी भी करनी पड़ती थी। धीरे-धीरे प्रैक्टिस अच्छी चल निकली और डायलॉग तो कुछ बच्चों की जुबान पर इतनी अच्छी तरह चढ़ गए थे कि वे नाटक के अलावा भी आपस की बातचीत में कई बार इन डायलॉग को बोल-बोलकर मजे लिया करते थे।

जैसे-जैसे सांस्कृतिक कार्यक्रमों का दिन नजदीक आता गया, हम पढ़ाई को भूलते गए और बस नाटक में ही रमते गए। उन दिनों हम कई पीरियड मिस भी करते थे। अब तो हाऊस के कुछ टीचर हमारी एक्टिंग की दाद भी देने लगे थे। खासतौर से हमारी सहेली ज्योति 'बुढ़िया' का रोल बखूबी निभाती थी। कभी-कभी तैयारी के दौरान हम इतने उत्तेजित हो जाते की झगड़ ही पड़ते थे। पर पुनः सम्भलकर फिर ध्यान नाटक में ही लगाते। उधर नाटक के दौरान मंच कैसा सजेगा, सबकी ड्रेस क्या-क्या होगी..... जैसे विषयों पर भी चर्चा जोर-शोर से शुरू हो गई थी। काफी बहस के बाद ही सब तय हो पाया और तमाम सामानों की सूची बनाकर अध्यक्ष सर को दे दी गई। स्टेज की सजावट की जिम्मेवारी कुछ बच्चों को अलग-से सौंप दी गई।

●

तो आखिर वह दिन आ ही गया!! विभिन्न हाऊस एक के बाद एक अपने कार्यक्रम दिखा रहे थे। हमारे हाऊस के भी लोकगीत व शास्त्रीय नृत्य संबंधी कार्यक्रम हो चुके थे। परदे के पीछे हमारे नाटक के लिए सजावट हो गई थी। पेड़ की टहनियों, ईंटों के ढ़ेर के पीछे छिपे गमलों, चारपाई, मूढ़ों और चटाई आदि की मदद से ग्रामीण परिवेश निर्मित करने का प्रयास किया गया था। और फिर पर्दा उठा और शुरू हुआ हमारा नाटक। सब कुछ ठीक चला। माईक आदि ने भी साथ दिया और अपना पार्ट अदा करने के बाद मैंने कोने में जाकर देखा तो सब ध्यान से और पूरी रूचि के साथ मंच पर आँखे व कान गढ़ाए देख-सुन रहे थे। हॉल में चुप्पी छायी थी, बीच-बीच में किसी मजेदार डायलॉग से हँसी फूट जाती और जान पड़ रहा था कि सबको आनंद आ रहा है।

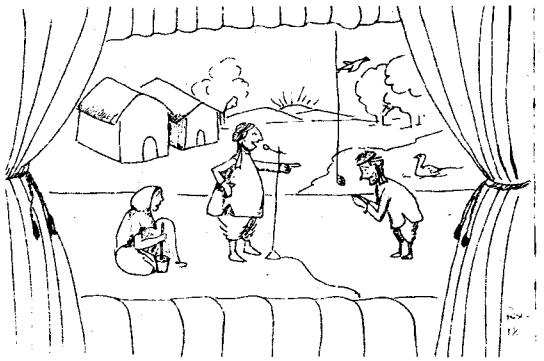

नाटक खत्म हुआ और तालियों की जोरदार गड़गड़ाहट ने इसकी सफलता की सूचना दे दी। हम सब प्रसन्न थे। कपड़े बदलने के लिए हम मंच के पीछे से अपने कमरों की ओर भागे। अचानक मैंने पीछे मुड़कर देखा; तो मैं भौचक्की रह गई।

हाल के पीछे के दरवाजे से बाहर निकलने वाली सीढ़ियों पर से एक मूढ़ा खुद-ब-खुद चलकर नीचे उतर रहा था! मैं चीखने ही वाली थी कि तभी मुझे मूढ़े के नीचे नन्हें-नन्हें पैर नजर आए और मैं समझ गई। ...तभी वह मूढ़ा हवा में उछला और उसके नीचे से निकला हमारे नाटक का सबसे छोटा पात्र - एक शरारती लड़का, जो छोटी कक्षा से था। मंच पर से जल्दी-जल्दी सामान समेटते हुए, किसी ने उसके ऊपर ही यह मूढ़ा धर दिया था और वह भी मजे में यूँ ही चला

आ रहा था। कुछ लड़खड़ाता हुआ वह मूढ़े को बाहर रख भाग खड़ा हुआ।

आखिरी कार्यक्रम चल रहा था, जब हमने हॉल के पीछे-से प्रवेश किया और एक कोने में दुबक गए। कार्यक्रम खत्म हो जाने के बाद जब परिणाम घोषित हुए, तो हमारी खुशी का ठिकाना न रहा! हमारा नाटक प्रथम आया था। मुख्य अतिथि ने इसकी प्रशंसा करते हुए, इसे किसी शहरी स्लम बस्ती में जाकर दिखाने की सलाह दी थी। हॉल के बाहर निकलने पर हम सबने खूब हो-हल्ला मचाया और खुशी का इज़हार किया।

काफी दिनों तक नाटक हमारी चर्चा में रहा। बाद में एक दूसरे हाऊस के कुछ बच्चों ने हम में फूट डालने के लिए, किसको ज्यादा श्रेय दिया जाए, जैसे प्रश्न उठाकर तनाव बनाने की भी कोशिश की। पर यह कोशिश विफल रही। कितना अच्छा होता अगर यह प्रतिस्पर्धा न होती और सब हमारी खुशी में समान रूप से हिस्सेदार बन सकते। खैर, नाटक की वे यादें आज भी हमारी मधुर स्मृतियां हैं और जब-जब मैं उस मूढ़े के खुद-ब-खुद चलने की बात को याद करती हूँ, मेरी हँसी छूट जाती है। कुछ समय बाद हम स्कूल के निकट की एक झोंपड़ी-बस्ती में भी गए और वहाँ जाकर अपना यह नाटक खेला। हम सब खुश थे और नाटक की सफलता पर हमने पार्टी भी बनायी। पर हमारी इस खुशी में अन्य हाऊसों की कक्षाएं, यहाँ तक की हमारे साथ की ही अन्य सेक्शनों की कक्षाएं भी शामिल नहीं थीं और कईयों के लिए तो हम ईर्ष्या का पात्र ही बन कर रह गए!

● ● ●

''सुनो! ...एक काम करो जरा।''

काम करना अच्छी बात है। मेहनत करना अच्छी बात है। दूसरों की मदद करना अच्छी बात है। ठीक है भई, ...जानते हैं हम कि ये अच्छी बाते हैं, अच्छे गुण हैं। पर जब स्वयं आराम फरमाते हुए, कोई आप पर दनादन आदेशों की बौछार करे या अपने काम आप पर थोपे या आपसे चाकरी कराए ...; तो भला 'अच्छे गुण' कहां याद रहते हैं।

कुछ इसी प्रकार से कुछ टीचर बच्चो से अपने अनगिनत काम करवाते थे। विशेषकर जब उनके प्रति सम्मान की भावना नदारद होती; तब ये काम अच्छे-खासे बोझ के रूप में लगने लगते थे। पर कुछ बच्चों को इन कामों में बड़ा मजा आता था क्योंकि कक्षा में बैठे-बैठे बोरियत-भरी पढ़ाई करते रहने से अच्छा था, घूम-फिर कर टीचरों का हुक्म बजाते फिरना...।

पानी पिलाने, अपने रजिस्टरों पर कवर चढ़वाने, यहाँ-वहाँ कोई सूचना पहुंचाने से लेकर अपनी मेज या लॉकर साफ करवाने, अपनी मेज-कुर्सी या बैठने का स्थान साफ करवाने, कॉपियां उठाकर लाने, चैक की गई कॉपियां बांटने, कोई लिस्ट आदि बनवाने, ब्लैक बोर्ड पर किसी बच्चे से ही विषय से संबंधित कुछ सामग्री लिखवाते रहने, बाजार से अपने लिए कोई वस्तु मंगवाने, अपने कमरे की दरियां आदि साफ करवाने, छोटी कक्षाओं को 'चुप' कराने, छुट्टी के समय बाहर खड़े अपने किसी वाहन तक अपनी चीजें पहुंचवाने आदि तमाम किस्म के काम टीचर बच्चों से करवाते रहते थे। यहाँ तक की कभी-कभी कुछ तथाकथित होशियार बच्चों से कॉपियां चैक कराने, छोटी कक्षाओं के कुछ पेपर तक चैक कराने के काम करवाए जाते थे। एक टीचर तो ऐसा था कि बकायदा कुछ लड़कियों को अपने कमरे में बुलवाकर कभी-कभी उनसे खीर या हलवा बनवाता था। कक्षा अध्यापक या अध्यापिका (क्लास-टीचर) काम करवाने के संबंध में अपना विशेष अधिकार जताते थे।

प्राय: टीचर अपने 'चहेते' और 'आज्ञाकारी' छात्र-छात्राओं से

खास काम करवाते थे। बल्कि कभी-कभी इस 'चहेतेपन' के पीछे एक ठोस कारण यह भी था कि ये बच्चे बढ़-चढ़कर उनके काम करने को तैयार रहते थे। ये बच्चे टीचरों के 'वफादार' माने जाते थे। प्रायः यह माना जाता था कि इन्हें स्टाफरूम की कई गुप्त बातों का पता रहता है। अन्य बच्चे इसी कारण कुछ 'चहेतों' के रौब में रहते थे।

काम करने वाले इन चहेते बच्चों का मात्र टीचर के प्रति पर्याप्त रूप से वफादार होना ही काफी नहीं था; बल्कि पर्याप्त स्मार्ट व एफिशियेंट होना भी जरूरी माना जाता था। कुछ 'चहेते' तो 'चमचे' भी हुआ करते थे। कुछ चहेते बच्चों को अन्य सामान्य बच्चों की चुगली करने की भी आदत-सी पड़ जाती थी। प्रायः छोटे समझे जाने वाले काम जैसे साफ-सफाई से काम 'चहेतों' से न करवाकर उनके निर्देशन व देख रेख में अन्य बच्चों से करवाए जाते या चहेतों को सफाई कर्मचारी (जो प्रायः मुश्किल से ही मिल पाते थे) की खोज में दौड़वाया जाता. ..। कई बार ये 'चहेते' बच्चे 'दलाल' की भूमिका बखूबी निभाया करते थे।

मेरे साथ कभी-कभी ऐसा हुआ करता था कि प्रशंसा की पात्र बनकर भी मैं 'चहेतों' की विशेष श्रेणी में नहीं आयी। ऐसा इसलिए प्रायः होता क्योंकि मैं पर्याप्त रूप से स्मार्ट या एफिशियेंट सिद्ध नहीं हो पाती थी। प्रायः मैं टीचरों की निजी जानकारियों... उनकी रुचि-अरुचि, उनकी अल्मारी या लॉकर कहां है, वे कहां बैठते हैं ....., उनका सामान कहाँ पड़ा होता है आदि से अनजान रहती या इस सबके प्रति उदासीन रहती थी। कुछ ऐसे अवसर भी मुझे याद हैं, जब मुझे कोई काम करने को कहा गया और जानकारी के अभाव में मैंने असमर्थता जतायी। तब तनिक खीझ या मुझे हल्की-सी झिड़की लगाते हुए वह काम किसी और को सौंपा जाता या मुझे किसी 'प्रशिक्षित' चहेते के साथ जानने व सीखने के लिए भेजा जाता ताकि आगे से मैं भी पर्याप्त एफिशियेंट हो जाऊं। पर मैं इन मामलों में प्रायः ढीली ही रही और इसलिए कुछ टीचरों के कम ही काम आ पाती थी। मुझे याद है कि कभी-कभी कुछ ऐसे

टीचर जिनका मैं मन से आदर करती थी, उनके द्वारा काम सौंपे जाने पर, जानकारी के अभाव जैसी तमाम मुश्किलों के बावजूद मैं वह काम करने का पूरा प्रयत्न करती थी और कभी-कभी सफल भी सिद्ध होती। पर 'चमचेपन' से मुझे सख्त नफरत रही। मुझे यह याद है कि कॉलेज में आकर शायद पहली बार एक टीचर, (जिन्हें मैं पसन्द करती थी) की कुछ मदद, मैंने स्वयं आगे बढ़कर करने की कोशिश की थी...। हुआ कुछ यूँ कि वह टीचर कुछ भारी सामान उठा कर ले जा रही थीं और ...मैं अनायास ही उनकी मदद करने के लिए उनसे पूछ बैठी...। पर उन्होंने शायद समझा हो कि मैं 'चहेती' या 'चमची' बनने की कोशिश कर रही हूँ और उन्होंने मेरी मदद लेने के लिए शुष्क स्वर में इंकार कर दिया। तब अचानक मुझे झटका-सा लगा और उन्होंने मेरे बारे में क्या सोचा होगा यह सोचकर मैं कुछ समय तक अंदर-ही-अंदर ग्लानि अनुभव करती रही।...

खैर, मूल बात यह है कि टीचर्स-स्टूडेंट के रिश्तों में एक़-दूसरे की मदद करने के भाव से या मिल-जुलकर काम करने के भाव से बहुत कम ही कोई काम होता होगा। स्कूल-कॉलेज में अधिकतर जो होता था वह था - आदेश दिए जाना, निर्देश दिए जाना और उन आदेशों-निर्देशों का पालन। कई बार चहेतों से काम करवाते समय, मीठे व्यवहार का परिचय देते हुए, टीचर्स आदेश की जगह विनती करते लगते - 'प्लीज, एक काम कर दो जरा।' ...और फिर तुरन्त वह काम बताया जाता। चूंकि काम से इंकार करने की अधिक गुंजाइश न थी; अतः यह 'प्लीज' मात्र एक औपचारिकता ही अधिक थी, न कि वास्तव में विनती। होता दरअसल यह आदेश ही था।

कुछ वफादार, एफिशियेंट और 'चहेते' बच्चों से कई बार तो इतना अधिक काम करवाया जाता कि उस दिन उनका अधिकांश समय उन्हीं कामों में बीतता और फुरसत का समय भी वे अपने सहपाठियों के साथ मजे में नहीं बिता पाते थे और कभी-कभी वे काफी थक जाते थे।

कुछ बच्चे कक्षा की कैद से छूटने को इतना छटपटाते थे कि

जैसे ही यह प्रश्न उनके कानों में पड़ता - ''कौन करेगा यह काम?''. .... तो वे मारे खुशी के उछल पड़ते। तब हाथ ऊँचे से ऊँचा उठा-उठाकर और कभी-कभी जोर-जोर से चिल्लाकर या फिर कभी-कभी तो मचलकर, उस काम के लिए अपने को आगे बढ़-बढ़कर हाजिर करते थे। काम के बहाने बाहर घूमने को मिलेगा, खुली हवा में सांस लेने को मिलेगा, कक्षा से बाहर के नजारे देखने को मिलेंगे, रौब झाड़ने का मौका मिलेगा और फिर अपनी ओर से थोड़ी देर लगाकर लौटेंगे, मौज-मस्ती करके लौटेंगे...! कितना रोचक था यह सब! कक्षा के उबाऊ माहौल, बेहद औपचारिक ढंग-से होती पढ़ाई, थोपे गए अनुशासन में बंधे रहने से कुछ देर की 'मुक्ति' थी यह। फिर इसके लिए अपनी योग्यता का आश्वासन देने को क्यों न कई बच्चे तैयार हों! क्या जाने फिर धीरे-धीरे वे 'चहेते' की श्रेणी में ही दाखिल हो जाएं!

● ● ●

घर और स्कूल का अंतर

मेरे घर के वातावरण और स्कूल/कॉलेज के वातावरण में काफी अंतर रहा। और इस प्रकार मैं दो पाटों में बंटती चली गई...। एक ही बात के लिए स्कूल या कॉलेज में अलग माहौल होता और घर में अलग...

"अरे वाह! अच्छे नम्बर हैं। देखो मल्लिका हमारी बेटी के हिन्दी में कितने अच्छे नम्बर हैं।"

"हाँ, देखो तो...। मैंने कहा था न तुमसे, इसकी अभिव्यक्ति बहुत अच्छी है।"

"बेटा, मुँह क्यों लटकाया हुआ है ? क्या बात है?... अच्छा, इधर आ, इधर बैठ मेरे पास...।"

"पापा, मैंने सोचा था... कम से कम सोशल साइंस में तो अच्छे अंक आएंगे...!"

"कोई बात नहीं बेटा। पचास प्रतिशत भी इसमें कम नहीं। ... और फिर हमें पता है, हमारी बेटी की इन विषयों पर कितनी पकड़ है. ..। कितना सोचती, समझती है वह इन सबके बारे में...। हूँ...। ये इक्ज़ामिनर तो निरे मूर्ख हैं, जो वे मेहनत की कद्र नहीं समझते...।"

"बेटे, तेरे को तो पता ही है...। इस व्यवस्था में रटने वालों की ही अधिक पूछ है। यह तो 'हमें' पता है न कि हमारी बेटी कितना समझती है, ...समझ कर पढ़ती है। ...कितनी ज्यादा मेहनत करती है। देख लेना... इस रटने-वटने का अंत में जीवन में कोई काम नहीं। कभी न कभी तो लोग तुझे समझेंगे ही...।"

"हाँ, ...और हमारे लिए यही बहुत है कि तुमने मेहनत की... ईमानदारी से पढ़ीं ...बड़ी लगन से पढ़ाई की ...और इन विषयों की अपनी एक समझ बनायी। ...और फिर सभी विषयों में तो पास है...।"

"पर पापा टीचर्स क्या कहेंगे! वो तो नहीं मानेंगे न..।"

"बेटा, इन टीचरों ने सारी जिंदगी तो तेरे साथ नहीं रहना न। वैसे कौन-सा तुम्हारा बहुत भला करते थे वो...। रोज तो तू बतलाया

करती थी ...ठीक से नहीं पढ़ाते, कुछ भी नहीं समझाते ...क्लास में नहीं आते। वो थोड़ी-न कदर करेंगे तेरी समझ की ...मेहनत की...। जो, कुछ भी, समझदार होंगे वे, देखना, समझ जाएंगे कि इसमें तेरी कोई गलती नहीं ...।"

"चल बेटा बस कर। अब खुश हो जा। देख, मैं कौन-सी मिठाई लायी हूँ ...। ...अरे, नई किताबें नहीं लाने चलना हैं...।"

●

यह घर का दृश्य था। पर इसी रिजल्ट पर, स्कूल-कॉलेज में मैं बिल्कुल भिन्न तरह की प्रतिक्रिया पाती थी।...

"मुझे तुमसे काफी उम्मीद थी।"

"क्या हुआ, पेपर क्यों खराब किया तुमने...।"

"हिन्दी तो आसान है। उसमें किसी के भी इतने आ जाते हैं। ..साइंस में क्या हुआ!..."

"सोशल साईंस तो तुम्हारा प्रिय विषय था न! ...उसमें क्या हुआ?"

"जरूर तुम कुछ लिखना भूल गई होगी। प्रश्न तो ठीक से समझा था न!..."

"मैडम, मैंने तो अपनी तरफ से अच्छा ही किया था। पर ...।" बहस से कोई फायदा न था। गुनहगार तो मैं ठहरायी जा चुकी थी। सारी बात कर लो, अंत में उंगली मेरी ओर ही उठनी थी...। तो फायदा क्या? ...सिर झुकाए सुनते जाओ। कभी-कभी कोई गैर-जिम्मेदार टीचर ऐसे सवाल करता; तो मन करता पलटकर पूछा जाए... "आप ने कितना पढ़ाया था?" ..."आप कितना समझाते थे...।" ...जितना हो पाया, वह भी अपने बल-बूते पर ही तो हो पाया। पर क्या कहती...। कहने का साहस नहीं था मुझमें। कहने का अधिकार जो नहीं था मुझको...।

●

"मल्लिका, इस बार रेखा की भूगोल की किताब कितनी रोचक है न...! समय मिले तो सब मिलकर पढ़ेंगे।"

"हाँ, पापा, अच्छा मैं आपसे कुछ डिस्कस करना चाहती हूँ...।" ...और फिर रोचक वार्तालाप शुरू हो जाता है। नाना किस्म के प्रश्न उठते हैं। मल्लिका भी खिंची चली आती हैं। सब मिलकर सोचते-विचारते हैं। कई किस्म की कल्पनाएं की जाती हैं ...और फिर कुछ टॉपिक्स पर तो मानो बहस छिड़ जाती है ...आज की ज्वलंत समस्याओं पर बातचीत चल पड़ती है। ...कुछ समय बाद वहां से उठते हुए रेखा कहती है, "अरे वाह! अब तो बहुत मजा आएगा भूगोल पढ़ने में। ...मम्मी मेरा ग्लोब कहाँ है ?..."

●

अगले दिन स्कूल में भूगोल के पीरियड में...। "कौन-कौन किताब नहीं लाया है। खड़े हो जाओ।"...

"चालीस नम्बर हैं, तुम्हारे सोशल साईंस के पेपर में भूगोल के ...। पूरे चालीस...। सोच लो, चालीस नम्बर मायने रखते हैं। ...इसलिए शुरू से ध्यान दो...।"

"शॉर्ट प्रश्न-उत्तरों की तो एक अलग से कॉपी बना लो। ...और हर हफ्ते बाद तुम्हारा टेस्ट हुआ करेगा।"

"चलो, अब...। कोई जना खड़े होकर पढ़े। ...कौन अच्छी रीडिंग करता है?..."

"अच्छा, अब देखो यहाँ ब्लेक बोर्ड पर...। समझो जरा...। पर इम्तिहानों में यह बनाना मत।"

"बस यहाँ, हाँ... इस लाइन से आगे ...हाँ ...उस पैरे के आखिर तक मार्क कर लो। यह 'Important' है। ..." ...

रेखा को लगा कि जो भूगोल कल उसका दोस्त बन गया लगता था, ...जिसपर घर में इतनी रोचक बातें हो रहीं थीं; वह अब न जाने कहाँ खो गया था?... किताब, कॉपी, Important Short Questions और इम्तिहानों आदि की बातों में छिपकर ...वह भूगोल न जाने कहाँ खो गया था! आज, वही किताब (जो कल तक रोचक जान पड़ती थी) कितनी बेजान हो गई थी...! ...और घण्टी बजने के बाद, उसे बंद कर बस्ते में डाल देने पर राहत महसूस हुई।

● ● ●

"मल्लिका, मुझे रेखा की यह बात बहुत अच्छी लगती है। इसे सबकी चिंता है, सबका ख्याल है...। देखो, कैसे इसने उस दिन स्मिता को सम्भाला था... कितनी अच्छी तरह से समझाया था उसे...। बस पता नहीं कभी-कभी खुद ही डांवाडोल क्यों हो जाती है।"

"सच में ...हमारी बेटी में कुछ खास खूबियां हैं...।"

"मम्मी, पता नहीं क्यों, सुलेखा मुझसे जलती है! ...जबकि आपको तो पता है न, मैंने कभी इस ढंग से नहीं सोचा। ये कुछ टीचर भी न ...हमारे आपसी रिश्तों में कभी-कभी खटास पैदा करते हैं। आज हिन्दी वाले सर जो लगे थे तुलना करने...!"

"इन टीचरों को भी चैन नहीं है। ...निरंतर एक होड़ में बच्चों को लगाए रखना...।"

●

पर स्कूल में तो अलग ही माहौल होता था। अलग ही शब्द होते थे... "देखो, इस बार हम 'डी' सेक्शन को पीछे छोड़ेगें...।"

"इस बार गणित में कौन टॉप करेगा..." "इस प्रतियोगिता में हमारे हाऊस को हर हाल में प्रथम आना होगा..."

"देखे, कौन यह सवाल पहले हल कर पाता है..."

"तुम्हारे नम्बर कितने हैं? ...और उसके कितने हैं ?..."

"स्नेहा वॉलीबॉल में इस बार उस सेक्शन की लड़कियों को हराना होगा... सारी निगाहें तुम्हीं पर हैं..."

● ● ●

भाषा ही अलग थी स्कूल-कॉलेज की....माहौल ही अलग था...। घर का अलग ...स्कूल-कॉलेज का अलग...। धीरे-धीरे रेखा भी दो तरह की होती गई...। घर की रेखा... और स्कूल की रेखा...। वह अपनी असली पहचान खोती गई...। घर में वह एक इंसान थी... जिसके अपने विचार थे... अपनी भावनाएं थीं... अपनी सोच, अपनी इच्छाएं थीं। ... और स्कूल या कॉलेज में वह एक व्यवस्था रूपी मशीन का पुर्जा थी, ...जिसे चलना था ...जैसे चलाया जाए, वह सब करना था - जो कराया जाए ...अपने को फिट रखना है, उस मशीन में...। (एक मौके पर

कॉलेज की हमारी प्रिन्सिपल ने, कहा था... 'College is running like a well-oiled machine'...। वास्तव में लगा यह मशीन ही था... बल्कि पूरी शिक्षा व्यवस्था एक मशीन ही लगी...!)

घर की भाषा थी

"मेरा विचार है कि...।"

"मेरा सोचना यह है कि...।"

"अगर हम ऐसा करके देखें तो...।"

"आपका क्या सोचना है ?...।"

"मैं सोचती हूँ...।"

"मेरे मन में यह बात आयी कि...।"

"मम्मी, कहो आपकी क्या राय है...।"

"नहीं, मेरा मन नहीं कर रहा। अगर इसके दूसरे पहलू पर विचार करें तो...।"

"मेरे को इस बारे में कुछ अलग-सा लगता है...।"

"मुझे आपके विचार पसन्द आए। ..... मैं इस ढंग-से सोचकर देखूंगी। ..... थोड़ा वक्त तो लगेगा न ..... । मेरे लिए यह नई सोच है...।"

स्कूल की भाषा थी

"यस (yes) मैडम"

"नो मैडम"

"मैंने कर लिया सर...।"

"सर प्लीज...।"

"ओ. के. सर...।"

"सॉरी सर, आगे से ऐसा नहीं होगा।"

"अब आप जैसा कहें...।"

"ठीक है सर...।"

...और बस आदेशों का पालन। न ज्यादा कभी पूछा गया और न कभी खास बताने का मौका मिला बच्चों को ...अपनी इच्छाएं ...अपनी राय, अपने विचार, अपना मत, अपनी भावनाएं.

..। यंत्रवत बस 'आदेश-पालन'...।

आदेश या आज्ञा की अवहेलना या आदेश पालन में चूक का अर्थ था - डांट या सजा या मार ...टीचर की किसी भी रूप में नाराजगी प्रकट होती...। ऐसा न चाहो, तो आँख मूंद कर आज्ञापालन करते जाओ. ..। अपने दिल और दिमाग के ज्यादा इस्तेमाल की जरूरत नहीं...। कान से सुनो और फिर सुनी हुई बात में दिए सही-सही आदेश को पहचान लो और फिर करो उसका पालन...!

ऐसा करते-करते धीरे-धीरे इच्छाएं दब गईं, खुद की सोचने-विचारने की क्षमताएं क्षीण होती गईं, एक इंसान के रूप में अपनी पहचान तक हम खोते गए ...मशीन का पुर्जा बनते गए ...अपने आप से बिछड़ते गए ...। और ऐसे में अचानक स्कूल या कॉलेज में कभी कोई पूछ बैठता हमारे विचार, हमारी राय, हमारी सोच...; तो खुद पर हैरानी होती थी। किस कदर भूल गए थे हम सोचना-विचारना...! दिमाग बिल्कुल खाली लगता था, ऐसे में...। कुछ सूझता न था। ...दिलो-दिमाग शून्य से जान पड़ते थे, ऐसे में! समझ नहीं आता था कि क्या कहें .. .! ...और आज्ञापालक बच्चे मुँह झुकाए बगले झांकने लगते थे। ऐसे में, लीक से कुछ हटकर चलने वाली, बच्चों की राय या उनके विचार जानने की कुछ उत्सुकता रखने वाली वह टीचर खीझ उठती थी या हैरान होती थी, कुछ समझ न पाती थी कि अपने सामने बैठे तीस-चालीस हाड़-मांस के पुतलों में जान कैसे भरे, कहाँ से और कैसे शुरू करे . ..उनको समझना!

कई किस्म के अन्याय, शोषण को चुपचाप निर्विरोध सहने की आदत यहां स्कूल-कॉलेज में डल रही थी। इसी नींव का अंजाम है कि समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्याय-शोषण पर चुप्पी साधे रहने, यथास्थिति को बरकरार रखने के कई लोग आदी हो जाते हैं।

● ● ●

मैंने झूठ बोलना सीखा!

स्कूल-कॉलेज में मैंने कई अवसरों पर झूठ बोला है। बल्कि यूँ कहें तो ज्यादा बेहतर होगा कि मैंने यहां झूठ बोलना सीखा है। मैंने कब-कब कैसे झूठ बोले?

कभी-कभी होमवर्क या टेस्ट आदि की तैयारी न कर पाने पर मुझे अपने 'डर' के कारण छुट्टी करनी पड़ती थी और फिर अगले दिन, मैं उस छुट्टी का झूठा कारण बताया करती थी। प्रायः ऐसे में मैं बीमारी का बहाना करती थी। अपने इस झूठ में मैं अपने माता-पिता को भी शामिल किया करती थी, उनसे सिक-लीव (Sick Leave) लिखवाकर। मैं वास्तव में भी बीमार पड़ा करती थी। और इस झूठी बीमारी व सच्ची बीमारी को यदि मिलाकर देखा जाए तो मेरी कई सारी सिक-लीव एकत्र हो जाती थीं! यह झूठ मेरा काफी समय तक चला और कॉलेज तक मैं इस झूठ का सहारा कई बार लेती रही। कॉलेज में इस झूठ की जरूरत प्रायः कुछ अलग स्थिति में पड़ती थी। वहाँ की पढ़ाई से तो मुझे विशेष संतोष नहीं था और विषय में रुचि मेरी इतनी थी कि स्वयं, छुट्टी करके घर में, इन विषयों को पढ़ना चाहती थी। कुछ भी हो मेरे द्वारा आमतौर पर बोले जाने वाले इस प्रकार के झूठ के पीछे क्या था? दो ही प्रमुख आधार थे, इस झूठ के - पहला, 'डर' और दूसरा, अपने आप अलग ढंग-से पढ़ने की इच्छा (जो स्कूल-कॉलेज की असंतोषजनक पढ़ायी का नतीजा थी)।

ये दोनों ही कारक इस व्यवस्था में निहित थे और मुझसे झूठ बुलवाते थे। झूठ न बोलती तो डाँट पड़ती, शायद मार भी पड़ती या सजा मिलती और मैं इस सबसे डरती थी, बचना चाहती थी। या फिर झूठ न बोलती तो अपने ढंग-से पढ़ न पाती, अपने दिल-दिमाग को संतुष्ट न कर पाती और इस व्यवस्था में बंधी एक सतही व खोखली पढ़ाई के बोझ तले ही दब जाती और मुझे यह भी गवारा न था। अतः मैंने झूठ बोलना सीख लिया था।

प्रतिस्पर्धा माहौल में हावी थी और इस सबमें 'फिट' न बैठ पाने

..। यंत्रवत बस 'आदेश-पालन'...।

आदेश या आज्ञा की अवहेलना या आदेश पालन में चूक का अर्थ था - डांट या सजा या मार ...टीचर की किसी भी रूप में नाराजगी प्रकट होती...। ऐसा न चाहो, तो आँख मूंद कर आज्ञापालन करते जाओ. ..। अपने दिल और दिमाग के ज्यादा इस्तेमाल की जरूरत नहीं...। कान से सुनो और फिर सुनी हुई बात में दिए सही-सही आदेश को पहचान लो और फिर करो उसका पालन...!

ऐसा करते-करते धीरे-धीरे इच्छाएं दब गईं, खुद की सोचने-विचारने की क्षमताएं क्षीण होती गईं, एक इंसान के रूप में अपनी पहचान तक हम खोते गए ...मशीन का पुर्जा बनते गए ...अपने आप से बिछड़ते गए ...। और ऐसे में अचानक स्कूल या कॉलेज में कभी कोई पूछ बैठता हमारे विचार, हमारी राय, हमारी सोच...; तो खुद पर हैरानी होती थी। किस कदर भूल गए थे हम सोचना-विचारना...! दिमाग बिल्कुल खाली लगता था, ऐसे में...। कुछ सूझता न था। ...दिलो-दिमाग शून्य से जान पड़ते थे, ऐसे में! समझ नहीं आता था कि क्या कहें .. .! ...और आज्ञापालक बच्चे मुँह झुकाए बगले झांकने लगते थे। ऐसे में, लीक से कुछ हटकर चलने वाली, बच्चों की राय या उनके विचार जानने की कुछ उत्सुकता रखने वाली वह टीचर खीझ उठती थी या हैरान होती थी, कुछ समझ न पाती थी कि अपने सामने बैठे तीस-चालीस हाड़-मांस के पुतलों में जान कैसे भरे, कहाँ से और कैसे शुरू करे . ..उनको समझना!

कई किस्म के अन्याय, शोषण को चुपचाप निर्विरोध सहने की आदत यहां स्कूल-कॉलेज में डल रही थी। इसी नींव का अंजाम है कि समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्याय-शोषण पर चुप्पी साधे रहने, यथास्थिति को बरकरार रखने के कई लोग आदी हो जाते हैं।

● ● ●

मैंने झूठ बोलना सीखा!

स्कूल-कॉलेज में मैंने कई अवसरों पर झूठ बोला है। बल्कि यूँ कहें तो ज्यादा बेहतर होगा कि मैंने यहां झूठ बोलना सीखा है। मैंने कब-कब कैसे झूठ बोले?

कभी-कभी होमवर्क या टेस्ट आदि की तैयारी न कर पाने पर मुझे अपने 'डर' के कारण छुट्टी करनी पड़ती थी और फिर अगले दिन, मैं उस छुट्टी का झूठा कारण बताया करती थी। प्रायः ऐसे में मैं बीमारी का बहाना करती थी। अपने इस झूठ में मैं अपने माता-पिता को भी शामिल किया करती थी, उनसे सिक-लीव (Sick Leave) लिखवाकर। मैं वास्तव में भी बीमार पड़ा करती थी। और इस झूठी बीमारी व सच्ची बीमारी को यदि मिलाकर देखा जाए तो मेरी कई सारी सिक-लीव एकत्र हो जाती थीं! यह झूठ मेरा काफी समय तक चला और कॉलेज तक मैं इस झूठ का सहारा कई बार लेती रही। कॉलेज में इस झूठ की जरूरत प्रायः कुछ अलग स्थिति में पड़ती थी। वहाँ की पढ़ाई से तो मुझे विशेष संतोष नहीं था और विषय में रुचि मेरी इतनी थी कि स्वयं, छुट्टी करके घर में, इन विषयों को पढ़ना चाहती थी। कुछ भी हो मेरे द्वारा आमतौर पर बोले जाने वाले इस प्रकार के झूठ के पीछे क्या था? दो ही प्रमुख आधार थे, इस झूठ के - पहला, 'डर' और दूसरा, अपने आप अलग ढंग-से पढ़ने की इच्छा (जो स्कूल-कॉलेज की असंतोषजनक पढ़ायी का नतीजा थी)।

ये दोनों ही कारक इस व्यवस्था में निहित थे और मुझसे झूठ बुलवाते थे। झूठ न बोलती तो डाँट पड़ती, शायद मार भी पड़ती या सजा मिलती और मैं इस सबसे डरती थी, बचना चाहती थी। या फिर झूठ न बोलती तो अपने ढंग-से पढ़ न पाती, अपने दिल-दिमाग को संतुष्ट न कर पाती और इस व्यवस्था में बंधी एक सतही व खोखली पढ़ाई के बोझ तले ही दब जाती और मुझे यह भी गवारा न था। अतः मैंने झूठ बोलना सीख लिया था।

प्रतिस्पर्धा माहौल में हावी थी और इस सबमें 'फिट' न बैठ पाने

का डर बना रहता था। ऐसे में धीरे-धीरे मैंने सीखा दूसरे बच्चों से अपनी तैयारी कुछ छिपाना। प्रतिस्पर्धा मुझ पर भी हावी हो चली थी। पर एक प्रकार का भय या 'डर' का भाव भी इसके साथ जुड़ा था। मुझे अपनी क्षमताओं पर हमेशा से कम विश्वास रहा है। मैं इतना पढ़ा करूँ और फिर भी इम्तिहानों में ठीक-से नम्बर न ला पाऊँ तो! कितना मजाक उड़ेगा मेरा! तो क्यों न अपने अधिक पढ़ाई करने, दिन-रात मेहनत करने की बात को कुछ छिपाऊँ। यह 'छिपाना' मुझसे कई झूठ बुलवाता था। अंदर-ही-अंदर यह झूठ मुझे बेचैन करता था; पर फिर भी मैं इसे बोला करती थी।

टीचर मुझसे अपेक्षाएँ रखते थे। और उनकी हर अपेक्षा से मेरा दिल बैठा जाता था। पता नहीं उनकी अपेक्षाओं पर खरी उतर पाऊंगी भी या नहीं। उनकी नजरों में मैं जो थी, मेरा जो स्तर था; उसे बनाए रखने के लिए भी मैं यदा-कदा झूठ बोला करती थी।

मैं घर में आकर, आमतौर पर, झूठ नहीं बोलती थी या फिर बहुत कम बोलती थी। यहाँ खुला माहौल था। और फिर पापा-मम्मी से झूठ बोलना, मुझे अंदर-ही-अंदर छटपटाते रहने की असीम बेचैनी देता था। अगर कभी उनके समक्ष मैं झूठ बोल गई तो प्रायः किसी न किसी तरह, देर-सवेर, या कभी हँसी में बात को उड़ाते हुए ..... सच भी बता दिया करती थी। एक विश्वास मुझे घर में मिलता था कि मेरी हर सफलता-असफलता में मम्मी-पापा मेरे साथ हैं, वे मेरे अपने हैं और सफलता-असफलता के तंग ख्यालात से कहीं ऊपर हैं - हमारे रिश्ते - हमारा प्यार और विश्वास। फिर वे, वैसी संकीर्ण अपेक्षाएं भी तो नहीं रखते। हाँ, अगर झूठ बोलने का एक स्वरूप यह भी माना जाए कि सच को छिपा लिया जाए, उस विषय पर कुछ बोला ही न जाए; तो इस मूक झूठ का प्रयोग तो मैं घर में आकर भी करती थी। दरअसल जिस प्यार, विश्वास और सम्मान को मैं घर में पाती थी; उस खुशी में मैं किसी किस्म की खलल नहीं चाहती थी। और इसीलिए कई बार मैं स्कूल के अपने कड़वे अनुभवों को छिपा जाती थी (विशेषकर तब जब मुझे कोई डाँट-मार पड़े या सजा मिले तो या फिर मेरे आत्मसम्मान को ठेस पहुंची

हो तो)। मैं नहीं चाहती थी कि मम्मी-पापा अपनी बेटी को स्कूल में मिलते दर्द की कल्पना भी करें। कभी-कभी कुछ छिपाया हुआ, मैं कुछ समय बाद, धीरे-धीरे, टुकड़ों में बताती थी और बताकर मुझे संतोष मिलता था।

खैर, स्कूल-कॉलेज के माहौल ने मुझे झूठ बोलना सिखाया था। सिखाया क्या, मैंने सीखा था। सीखने को मैं तैयार थी, तभी तो सिखाया। पर चूंकि उसके बिना गुजारा न था, इसलिए सीखा।

> 'सच बोलना' पहले-पहल जब एक आदर्श के रूप में मेरे मन में बैठा; तो मैंने उसका कई बार प्रयोग करके देखा। उसके प्रति एक प्रकार का आकर्षण रहा मुझमें। पर जब धीरे-धीरे मेरे लिए उसके बल पर इस व्यवस्था में रहना दूभर होता गया; तो मैंने कई बार झूठ का सहारा भी लिया।

पर एक बात मुझे हमेशा हैरान किया करती थी और आज भी हैरान करती है - वह यह कि मैंने कई लोगों को बात-बात पर, बिना खास जरूरत के, झूठ बोलते देखा है। उनके लिए झूठ बोलना कई बार मजाक का पर्यायवाची होता है। कोई भी झूठ बोल देंगे और फिर हँसकर कहेंगे, ''अरे, मैं तो ऐसे ही गप मार रही थी / रहा था।'' भला यह कैसा मजाक हुआ! मूर्ख बनाने के लिए बोला गया झूठ मुझे हैरान करता। कहीं न कहीं, 'झूठ एक बुराई है' - यह तो मैं माना करती। और शायद इसी विश्वास के कारण जीवन की मूल बातों में, मैं सदा सच्चाई का साथ देते रहने या सच्ची बने रहने का प्रयास करती रही हूँ। व्यवस्था मुझसे झूठ बुलवाती थी। मैं झूठ बोलती थी। पर अंदर-ही-अंदर एक बेचैनी भी महसूस करती थी, एक प्रकार की गिल्टी फीलिंग, एक अजीब-सी चुभन ... कुछ गलत हो गया है ...मैं कुछ गलती कर रही हूँ. ..।

झूठ बोलते समय, मैं अपने शरीर में अजीब-सी हलचल भी महसूस करती रही हूँ ..... गालों का गर्म होना, गले का रुंधना या एंठन-सी.....। अपने दिल में मैं अपने को दोषी ठहराती, उदास हो जाती।

पर फिर कुछ संभलकर, मन ही मन अपने माहौल का विश्लेषण कर, अपने उस झूठ को जरूरी ठहरा, उसे कई बार ज्सटिफाइ (Justify) करने का प्रयास करती थी। झूठ बोलना मेरे लिए आसान न था। इसके लिए मुझ विशेष प्रयास (बोलने से पहले और बोलने के बाद भी) करने पड़ते थे।

> सच तो यह है कि झूठ पर टिकी इस व्यवस्था का एक हिस्सा बनने के कारण मैं झूठ बोलना सीखती रही या झूठ में हिस्सेदार बनती रही।

झूठ बोलना मैं सीख गई। उसके साथ जुड़ी बेचैनी, हैरानी-परेशानी की हलचलों से जूझना भी सीख गई और इस प्रकार मेरा समाजीकरण (Socialisation) हो चला..... ।

● ● ●

विज्ञान मेले की सैर

''कल तुम सब को साइंस फेअर ले जाया जाएगा''- कुछ यही शब्द थे हमारे क्लास टीचर के और हम सब खुशी-से मानो पागल हो उठे थे। किसी तरह घण्टी बजने तक बर्दाश्त किया और जैसे ही लंच ब्रेक की घण्टी बजी और सर कक्षा से बाहर चले गए; तो हमारी खुशी की लहर हो-हल्ले, हँसने-चिल्लाने के रूप में उन्मुक्त बहने लगी। 'साइंस फेअर' को तो सब कुछ समय के लिए भूल गए। बस यही खुशी सबसे बढ़कर थी कि हमारी कक्षा कल स्कूल से कहीं बाहर जा रही है। हम सब घूमने जो रहे हैं! पिकनिक पर जा रहे हैं!! हुर्रे...!

और फिर तो बातों का सिलसिला थमता ही न था। कल क्या-क्या खाने को बनाकर लाना है, कितने बजे निकलेंगे, कैसे जाएंगे, कौन अपना कैमरा लाएगा, कौन-कौन वॉटर बॉटल लाएगा आदि-आदि ...तमाम बातें हो रहीं थी। कई अटकलें लगायी जा रही थीं। किसी ने कह दिया, "अरे, कल बैग लाने की क्या जरूरत है।'' अधिकांश ने इस विचार का खुशी-से स्वागत किया। आखिर एक दिन तो इस बोझ से छुटकारा मिले! पर कुछ ने शंका प्रकट की। बात उठी कि क्यों न सर से पूछ लिया जाए। फिर यह प्रस्ताव बहुमत से खारिज हो गया। ''हूँ, बड़े आए पढ़ाकू बच्चे ....अगर तुम्हें ज्यादा ही शौक है तो ले आना दो-चार किताबें। ...बड़े आए सर से पूछने वाले ...हुँह...।" इन वाक्यों ने पढ़ाई की बात करने वालों को चुप करा दिया। वे स्वयं भी अंदर-ही-अंदर खुशी महसूस करने लगे।

कुछ बच्चों को याद आया कि साइंस फेअर का नाम लिया था सर ने। क्या होगा इस विज्ञान मेले में ? कहीं वहाँ भी पढ़ाई न हो! नहीं-नहीं ...बोर मत करो। हम तो पिकनिक मनायेंगे। किसी ने यहां-वहां से पता लगाया कि हमारे साथ एक बड़ी कक्षा भी जा रही है। इस खबर से कुछ चेहरे उतर गए। हुँह, अब इन सीनियरों का रौब भी सहना पड़ेगा सारे समय। अरे नहीं-नहीं, देखना वे हम पर कुछ भी रौब न जमा सकेंगे ...। अरे, कौन-कौन से टीचर जा रहें हैं 'हमारे' साथ...? ...न जाने

कितनी बातें चलती रहीं लंच ब्रेक से शुरू होकर छुट्टी होने तक। उस दिन कक्षा में अनुशासन शिथिल हो गया था। पीरियडों में भी कानाफूसी या लिख-लिखकर बातें चलती रहीं। नाना किस्म की कल्पनाएं हम कर रहे थे और बेहद खुश थे।

अगले दिन, प्रार्थना खत्म होने के बाद से हम सब बेसब्री से, चलने का इंतजार करने लगे। मॉनीटरों को स्टाफरूम के बाहर मंडराने संबंधी हिदायतें देकर भेज दिया गया था - "जैसे ही कुछ खबर मिले हमें बताना।...", "अब देर क्यों हो रही है, जल्दी चलना चाहिए।"... अधिकांश बच्चे एक भी किताब नहीं लाए थे। कुछ ने दो-तीन किताबें या खाली कॉपी रख ली थी। पर बैग कईयों के पास था। कुछ के पास आज अलग-किस्म के बैग थे। इन बैगों में खाने की चीजें, कैमरा, मैगजीन या कॉमिक, दोस्तों को दिखाने वाली कई किस्म की चीजें (आखिर कभी-कभी तो मौका मिलता है!) ...आदि तमाम किस्म की वस्तुएं भरी थी। कुछ बच्चे तो जेब में बस कुछ पैसे डाल लाए थे।

और फिर खबरें एक-एक करके आने लगीं। हर खबर के साथ हो-हल्ला, बातों का सिलसिला चल पड़ता। 'हम बस से जा रहे हैं।', 'बारहवीं कक्षा का नॉन मैडिकल साइंस सेक्शन हमारे साथ जा रहा है।', 'केवल हमारे सर और उनके क्लास टीचर ही जा रहे हैं।' ...'बस कुछ ही देर में निकल रहे हैं।', 'सर ने कहा है बिल्कुल शोर नहीं करना' ...आदि-आदि। मॉनिटर द्वारा दी गई अंतिम हिदायत की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। हम सब बेहद खुश और उतावले हो रहे थे...। ऐसे में शोर भला कैसे थमता!

...और वे इंतजार की घड़ियां समाप्त हुईं। सर कक्षा में आए। उन्होंने कुछ हिदायतें दी और सबको बस तक चलने को कहा। सब ने दिखावटी अनुशासन को अपने ऊपर ओढ़ा और खुशी-खुशी सर के पीछे-पीछे चल दिए। बस के अंदर जाकर देखा तो हमारे सीनियर संख्या में बहुत कम थे। हम सब शोर मचाते हुए सीटों पर बैठे और बस के गुण-अवगुणों की चर्चा करने लगे। सर ने हमें कुछ शांत कराने का

प्रयास किया। पर अब तो यह शोर थमता ही न था! सर भी मुस्कराए और आगे के कैबिन में जा बैठे।

जैसे ही बस स्कूल के फाटक से बाहर निकली, हम सबने बहुत जोर से तालियां बजाकर और चिल्लाकर हर्षोन्माद किया। हम मानों जेल से छूटे कैदी थे। हमारा शोर इतना अधिक था कि सीनियर कक्षा के कुछ बच्चों को तो अपने कानों पर हाथ धरना पड़ा। पर वे भी हँस रहे थे। फिर तो हँसी-मजाक, चुटकलों, गानों का सिलसिला चल पड़ा। लगता है सर भी अंदर कैबिन में दूसरे सर के साथ बातों में व्यस्त थे या फिर वे हमारी इस उन्मुक्तता की भावना को समझ रहे थे और हमें भरपूर आनंद लेने दे रहे थे। हमारी खुशी का तो ठिकाना ही न था और बातों का पिटारा खत्म ही न होता था! कुछ बच्चे एक-दूसरे को खिड़कियों से बाहर के दृश्य दिखाने में व्यस्त थे। कुछ बच्चे अपनी सीटों से उठ खड़े हुए थे और चलती बस में उछल कूद मचाने में लगे थे व कुछ अन्य गानों के साथ कुछ थिरकने भी लगे थे। हम सब मस्त थे और टॉफी, चॉकलेट, चिप्स, बिस्कुट आदि खूब उड़ा रहे थे। सफर लम्बा था, पर मस्ती में ऐसा लगा मानो बहुत जल्दी कट गया हो।

...और विज्ञान मेला आ गया। यह टैण्टों में लगा मेला था। भीड़ बहुत कम थी। प्रदर्शनी और स्टॉल लगे थे। प्रदर्शनी के अंदर तरह-तरह की मशीनें, कम्प्यूटर, तस्वीरें, मॉडल आदि पड़े थे। एक बड़ी टीवी स्क्रीन पर कोई विज्ञान संबंधी फिल्म चल रही थी। रोबोट आदि के ढांचे भी पड़े थे। चीजों को छूने की मनाही थी। बस उन्हें देखकर समझना भर था। वहाँ बैठे लोगों से प्रश्न पूछने को भी हमें प्रोत्साहित किया गया। हमारे कुछ सीनियर गंभीर दिख रहे थे और वे कुछ नोटस् भी ले रहे थे। हमारे लिए कुछ चीजें बिल्कुल नई थीं और हमारी समझ से बाहर की भी थीं। पर हम में से कुछ काफी उत्सुकता से उन्हें देख रहे थे। कुछ बच्चे आपस में कानाफूसी कर किन्हीं गंभीर-सी जान पड़ने वाली चीजों का मजाक भी उड़ा रहे थे। प्रश्न कम ही उठ रहे थे।

प्रदर्शनी के बाहर, खुले मैदान में, कई किस्म के स्टॉल लगे थे।

एक तरफ खाने-पीने के स्टॉल थे। बाकी विज्ञान-से जुड़े खिलौनों, खेलों, पुस्तकों, यंत्रों, आदि के स्टॉल थे। यहाँ कई चीजे बिक रही थीं। बच्चे अब बिखर गए थे। सर भी इधर-उधर घूम रहे थे। कुछ बच्चों की रूचि खाने-पीने में थी, तो कुछ विज्ञान संबंधी खेलों में रूचि दिखा रहे थे। कुछ बच्चे खिलौनों व पुस्तकों के स्टॉलों में घुस गुए थे और जायजा ले रहे थे कि अपने बजट में से वे क्या ले सकते हैं। कुछ अन्य, यूँ ही आपस में बतियाते हुए मटरगश्ती कर रहे थे।

एक उचित स्थान ढूंढकर हम बैठे और अपने साथ लाया खाने-पीने का सामान खोला। इसकी सूचना हमने दोनों टीचरों तक भी पहुँचायी और उन्हें भी आमंत्रित किया। हम अपने साथ लाए बैगों, डिब्बों में से कई प्रकार के व्यंजन खोल-खोलकर खाने-खिलाने लगे। "अरे! तुम लोग इतना सब बनाकर लाए हो!"- यह कहते हुए दोनों टीचर भी हमारी खुशी में शामिल हुए। कुछ सीनियर विद्यार्थियों को भी हमने कुछ चीजें खाने को दी...। आलू-पूरी, पराठे, चाट, पुलाव, अचार-चटनियां, सैंडविच, कटलेट आदि की खुशबू ने मानो सारा वातावरण महका दिया। पास के स्टॉलों से कुछ बच्चे चिप्स, चाट आदि भी खरीद लाए। सबको मिल-बाँटकर खाने में खूब आनंद आ रहा था। पता ही नहीं चला की समय कैसे बीत गया और वापिस जाने का समय भी आ गया।

उस थोड़े-से समय की अनगिनत खुशियों की यादों को समेटे, हम वापिस बस में बैठ गए। रास्ते भर हो-हल्ला और मस्ती का दौर चलता रहा। शोर तब ही थमा, जब बस वापिस स्कूल की चारदिवारी के भीतर घुसी और स्कूल का फाटक बंद हो गया। थके-मांदे, लेकिन खुश-उत्साहित हम बस से नीचे उतरे।

शायद तब आखिरी पीरियड शुरू हुआ था, जो हमारा अपने सर के साथ ही था। हमें कक्षा में जाने को कह, सर स्टाफरूम की ओर बढ़ गए। हम क्लास में पहुँचे और जल्द ही भूल गए कि हम वापस स्कूल में कैद हो चुके हैं। कुछ थक कर सीटों पर पसर गए। कुछ बीते हुए सुखद क्षणों पर बातचीत, टोका-टिप्पणी करने लगे। कुछ साथ खरीदकर लायी चीजों को एक-दूसरे को दिखाने लगे और कुछ खुशी से शोर

मचाने लगे। कुछ बच्चे कक्षा से बाहर निकल कॉरीडोर में घूमने-फिरने लगे (इस आशा से की कोई आस-पास की कक्षा का बच्चा बाहर निकले तो अपने ताजे अनुभवों का जिक्र करके उसपर कुछ रौब जमाया जा सके)।

हम सब लगभग यह भूल चुके थे कि अभी आखिरी पीरियड चल रहा था। अवश्य ही हमारे शोर की शिकायत किसी ने की होगी कि अचानक सर कुछ गुस्से से कक्षा में दाखिल हुए। आस-पास मंडराते बच्चे उनके पीछे-पीछे, सहमकर, कक्षा में भाग कर आए। सब हड़बड़ा कर अपनी सीटों पर पहुँचे और संभलकर अभिवादन के लिए खड़े हुए। सर ने हमारे शोर पर नाराजगी जतायी।

इसके बाद सर ने हम सबको उनके विषय की किताबें निकालने को कहा। अब तो मानो हम सबको साँप सूंघ गया। हम सब तो किताबें लाए ही न थे। जो थोड़े-से बच्चे कुछ एक-दो किताबें लाए भी थे, वे भी यह सोच कि सर तो साथ ही जा रहे है - वह क्या पढ़ायेंगे; उनके विषय की किताबें तो बिल्कुल ही न लाए थे। सर का पुनः हम पर कुछ गुस्सा आ गया। नाराजगी जताते हुए, सर ने यह जानना चाहा कि आखिर किताबें न लाने को कहा किसने था। हम क्या बताते! यह तो पूर्णतः हमारी अपनी कल्पना ही थी। अतः मुँह झुकाए, सर की नाराजगी को सहने के सिवा अब कोई चारा न था। हमारी खुशी में अचानक थोड़ा अवरोध-सा आ गया था। खैर, छुट्टी की घण्टी ने समय पर बज कर हमारा साथ दिया और सर के चले जाने पर हमने राहत की साँस ली।

घर लौटते हुए या घर पहुँचकर अपने मीठे अनुभवों को सब को सुनाने की उत्सुकता मानो थमती ही न थी! इसलिए उस दिन के आखिर के कुछ मिनटों को भुला, हम आजाद पंछियों की तरह पिंजरे रूपी उस कक्षा से बाहर निकले और शेष स्कूल की भीड़ में जा मिले।

● ● ●

ट्रैकिंग ट्रिप

ग्यारहवीं कक्षा की बात थी। (तब मैं, एक दूसरे सरकारी स्कूल में पढ़ने लगी थी, जो केवल लड़कियों के लिए था।)

एक दिन हमारी कक्षा में खबर आयी कि हमें ट्रैकिंग-ट्रिप पर ले जाया जा रहा है! हममें से शायद ही कोई अबतक ट्रैकिंग पर गया हो। और इस खबर के साथ ही लड़कियों में नई-नई कल्पनाएं जन्म लेने लगीं। ट्रैकिंग, ओहो... तब तो खूब पैदल चलना होगा। चलो अच्छा है, बाहर तो निकलेंगे। ट्रैकिंग कैसे होती होगी, ट्रैकिंग के लिए क्या हम किसी पहाड़ी इलाके में जाएंगे?...क्या-क्या ले जाना होगा अपने साथ? ...आदि-आदि।

हमारे गर्ल्स गाइड के सर ने आकर बतलाया कि हम दिल्ली में ही ट्रैकिंग ट्रिप पर जा रहे हैं। कुछ अन्य टीचर भी जा रहे हैं और हम अपने साथ अपनी पानी की बोतल, खाने का डिब्बा जैसी कुछ सामान्य चीजें ले जा सकते हैं। सर ने हमें यह भी निर्देश दिया कि हम अपने-अपने घरों में देर से लौटने का कहकर आएं। सर के जाते ही बातें शुरू हो गईं - खाने के डिब्बे में कौन क्या-क्या लाएगा..., कौन-कौन-सी टीचरें जाएंगी हमारे साथ; इसपर भी हम अटकलें लगाने लगे। हम बहुत उत्सुक थे और बेसब्री से अगले दिन का इंतजार कर रहे थे। हर साल सरकारी खर्चे पर किसी ने किसी कक्षा को ट्रैकिंग-ट्रिप पर ले जाया जाता था और इस बार यह सौभाग्य हेमें मिला था।

अगले दिन, हम सब सुबह-सुबह पहुँच गए और प्रार्थना के बाद गेट के पास पहुँच जाने का इंतजार करने लगे। समय बीतता गया, पर काफी देर तक अंदर से कोई खबर नहीं आयी। कुछ लड़कियां पूछने जातीं; तो बस यही जवाब हमारे सर देते कि बस थोड़ी देर में ही चल रहे हैं। पर यह थोड़ी देर न जाने कितनी था! अब जबकि पहला पीरियड तक समाप्त हो गया था और हम सब कक्षा से बाहर मैदान में आ पहुँचे थे; तब हमें यह देखकर जान में जान आयी कि एक बस ने स्कूल के अंदर प्रवेश किया। सर, स्टाफरूम से बाहर निकल आए थे

और उन्होंने हमें बस के निकट ही इंतजार करने को कहा। अब और कितना इंतजार! पर ज्यादा देर नहीं लगी और स्टाफरूम से पाँच-छह टीचरें कुछ सजधज कर निकलीं। वे सबसे पहले बस में चढ़ीं और आगे की सीटों पर बैठ गईं। उसके बाद हम सब एक-एक करके बस में चढ़ने लगे। एक पियन बस में चढ़ा और उसने एक बड़ा-सा बक्सा और दो-तीन थैले आगे की तरफ रख दिए। यह हमारी टीचरों का सामान था। ऐसा लगता था कि ये टीचरें पिकनिक के मूड में हैं ... ... और हम ट्रैकिंग करेंगे!

आखिर, बस चल पड़ी। और हम हँसने-बतियाने, गाने-गुनगुनाने में लग गए। टीचर्स भी आपस में बतियाती रहीं। किसी ने आगे बैठे सर से पूछा - "सर, हम कहाँ जाएंगे?"... सर मुस्कराए और बोले कि अभी ठहरो और देखो कहाँ जाते हैं...। हम उत्सुक थे, अपने ट्रैकिंग स्थल को देखने के लिए। साथ ही स्कूल से बाहर निकल पाने से हम इतने खुश थे कि मस्त हो चले थे।

काफी देर बाद, हमारी बस बिड़ला मंदिर के सामने जाकर रुकी। अरे! बिड़ला मंदिर !! हम सब हैरान थे। पर टीचर्स लपक कर बस से उतर गईं और मंदिर की ओर बढ़ीं। "सर! ट्रैकिंग कहाँ होगी?", "बिड़ला मंदिर में!", "यहाँ कहाँ ट्रैकिंग होगी?"... हम सब हैरान थे।

"अरे, जरा मत्था तो टेक लो। ट्रैकिंग भी हो जाएगी...।" - सर ने बात को टालते हुए कहा। चलो, यह भी अच्छा रहा। थोड़ा घूमना-फिरना भी हो जाएगा। हम खुशी-खुशी बस से उतर कर बिड़ला-मंदिर गए। और पीछे के पार्क में बनी भूल-भुलैया गुफाओं में तो काफी मजा आया। शायद, टीचरों का यहाँ से जाने का मन ही न कर रहा था। पर हम में से कुछ लड़कियां बोर हो चली थीं और ट्रैकिंग का इंतजार बेसब्री से कर रहीं थीं। लगभग, दोपहर हो चली थी और हम पुनः बस में सवार हुए।

पर अबकी बार बस एक मॉडर्न आर्ट म्यूजियम के परिसर में आकर रूकी! "अरे! अब क्या हो गया!", "ट्रैकिंग का क्या होगा?"

... पर बस से उतरती एक टीचर ने हमारे सवालों को नजरअंदाज करते हुए कहा, "अरे, घूमने को मिल रहा है... घूमों, मजे करो...।" अच्छा तो यह बात है। तो यह पिकनिक ही है। चलो, यही सही। पर पहले से पता होता तो हम काफी कुछ खाने-पीने का सामान लाते। हमें तो बस कह दिया कि लंच-बॉक्स और पानी की बोतल ले आना... और खुद देखो ...!

सर भी हमसे नजरें चुराते हुए नीचे उतर गए थे। हम भी अब 'ट्रैकिंग ट्रिप' के शब्द अपने दिमाग से निकाल मजे करने के मूड में आ गए। वहाँ हम कुछ-ही देर ठहरे, पर अच्छा लगा। (हालांकि मॉडर्न आर्ट हमें समझ तो नहीं आयी; पर हमने वहां की वस्तुओं को देखकर स्वयं ही कई मजाक बनाकर अपना मनोरंजन किया।) अबकी बार जब पुनः बस चली, तो सर ने घोषणा की -"अब हम ट्रैकिंग करने जा रहे हैं।" इस घोषणा से नई उत्सुकता जागी, अपने ट्रैकिंग स्थल को देखने की...।

अब बस लोदी गार्डन पहुँची। "क्या हम लोदी गार्डन में ट्रैकिंग करेंगे?"- इस सवाल के जवाब में सर ने सहमति से सिर हिलाया और मुस्कुराए। हम हँसते-बतियाते अंदर पहुंचे; तो एक सुंदर-सा स्थान देख सर ने कहा, "पहले सब खा-पी लो; फिर बाद में ट्रैकिंग करेंगे।"

उधर टीचरों ने हमसे थोड़ी दूरी पर एक अलग स्थान चुन, अपनी चादरें बिछा दीं और अपने बक्से, थैलों से कई व्यंजन निकाल-निकालकर परोसने शुरू कर दिए। हम दूर से देख रहे थे। काश! हम भी पिकनिक पार्टी का सामान लाए होते।..... खैर, हमने एक पेड़ के नीचे बैठकर अपने-अपने लंच-बॉक्स निकालकर खाना शुरू किया। एक-दूसरे से मिल-बांटकर खाने में बड़ा मजा आया। हम लोग अपने लंच-बॉक्सों में रोज से बढ़िया चीजें ही लाए थे।

हम खा-पी चुके थे। पर टीचरों का खाना-पीना अभी जारी था और अभी उनसे बात करना हमने उचित नहीं समझा। अतः हममें से कुछ वहीं आस-पास टहलने लगीं। कुछ लड़कियां बैठ गईं और सुस्ताने

लगीं। हमें 'ट्रैकिंग' के लिए अपने को तरोताजा भी तो रखना था। काफी समय ऐसे ही बीत गया और तब जाकर अपना खाना-पीना समाप्त कर सर हमारी ओर आए। अब हमारी ट्रैकिंग शुरू होनी थी।

सर ने हमें फुटपाथ पर, अपने पीछे, एक पंक्ति में खड़े होने का आदेश दिया। फिर उन्होंने हमसे बिना शोर मचाए, उनके पीछे-पीछे चलने को कहा। अन्य टीचर तब तक सुस्ताने लगे थे और हम पंक्तिबद्ध, चुपचाप सर के पीछे-पीछे चल रहे थे। यह हमारी ट्रैकिंग हो रही थी या खाने के बाद की सैर! भगवान जाने! खैर, लोदी गार्डन का मुश्किल से आधा राऊंड ही हमने लगाया होगा कि सर ने वापिस चलने का आदेश दिया। हम वापिस वहीं पहुँचे जहाँ टीचरें बैठी सुस्ता, बतिया रही थीं।

अब हमें कुछ देर वहीं थोड़ी-दूरी पर बैठकर इंतजार करने का आदेश मिला। टीचरों ने कुछ समय लगाकर अपना सामान समेटा। फिर हमें लोदी गार्डन से बाहर चलकर, बस में बैठने का आदेश मिला। लो, यह हो गई ट्रैकिंग! यह तो टीचरों की पिकनिक हुई और हमारा भी सैर-सपाटा! दबे स्वर में ऐसी टिप्पणियां करते हम बस में जा बैठे।

बस वापिस स्कूल की ओर चल पड़ी। और हम हँसी-मजाक करते अपनी 'ट्रैकिंग' को याद करने लगे।

● ● ●

अभिभावकों और अध्यापकगण का मिलना

(Parents - Teachers Meeting)

साल में एक-दो बार, प्रायः आधे सत्र के बाद या बीच के इम्तिहानों के कुछ समय बाद, पेरन्ट-टीचर्स (Parents - Teachers) मीटिंग का समय आता था। कई बच्चे इस मीटिंग से बेहद घबराते थे। क्योंकि इस दिन घर और स्कूल में दोनों ओर उनसे ढेरों अपेक्षाएं रखने वाले अभिभावक और टीचर आमने-सामने होते थे और बीच में या साथ में, बैठे या खड़े बच्चे के बारे में चर्चा होती थी। प्रायः इस चर्चा का विषय पढ़ाई ही होता था - बच्चे के परीक्षाओं में कितने नम्बर आए, इतने कम क्यों आए, क्लास के अन्य बच्चों के मुकाबले में कितने कम आए और क्यों, ...क्यों वह फेल हो गया, क्यों वह फस्ट न आ सका, किस विषय में वह कमजोर है, क्या करना चाहिए कि वह अधिक नम्बर ला पाए, कितना प्रतिशत रहा उसका, क्यों किसी दूसरे बच्चे से कम रह गया उसका प्रतिशत, पिछली बार से बेहतर रहे या कम आए नम्बर, बच्चा होमवर्क ठीक-से करता है या नहीं, होमवर्क समय पर करता है या नहीं। इस प्रकार मुख्य विषय नम्बरों, इम्तिहानों, होमवर्क और आपसी प्रतिद्वंदिता तक ही सीमित रहता था- मुख्य रूप से यही चर्चा चलती थी। बच्चे पर कई किस्म के आरोप लगाए जाते थे।

कुछ बच्चों की स्थिति तो इतनी विकट हो जाती थी कि मानों वे कटघरे में खड़े हुए एक अपराधी हों और उनपर दोनों ओर से (घरवालों और स्कूल टीचरों की ओर से) अंगुली उठायी जा रही हो! कुछ बच्चों के अभिभावकों को उनपर तरस भी आता था और वे दुखी नजर आने के बावजूद किसी तरह से अपने बच्चे के बचाव में कुछ तर्क पेश करते थे। पर कुछ अभिभावक तो बकायदा टीचरों को यह सलाह देते दिखते कि उनके बच्चे को तो उन्हें ठोक-पीट कर ठीक करना चाहिए! कुछ बच्चों की प्रशंसा भी होती क्योंकि उनके अच्छे नम्बर आए होते थे। और अधिक अच्छे कैसे आ पाएं या किसी सहपाठी की अपेक्षा कहाँ-कैसे कम रह गए यह भी चर्चा का विषय होता था।

कभी-कभी तो वहीं अभिभावकों के सामने ही कुछ बच्चों को डांट पड़ जाती या कुछ टीचर तो किसी बच्चे को थप्पड़ तक लगा देते थे।

वह एक बड़ा-सा हॉल होता था। कई मेज-कुर्सियां उसमें लगा दी जाती थीं। हर टीचर के बैठने वाले स्थान के आगे उसकी नेम-प्लेट लगा दी जाती थी। कुछ एक-दो पियन (Peon) या बच्चे ही इस ड्यूटी पर लगाए जाते कि आने वाले अभिभावकों के बच्चों को बुला लाएं। पर इससे अधिक यह काम यूँ ही मटरगश्ती कर रहे, तांक-झांक कर रहे बच्चों या फिर 'चमचे' या 'चहेते' बच्चों द्वारा अंजाम दिया जाता था। वे उत्साह से भरे (मानो रोज की पढ़ाई-अनुशासन से कुछ छुटकारा मिला हो और एक मेला-सा लगा हो) भाग-भागकर संबंधित अभिभावक के बच्चे को उसकी कक्षा से बुला लाते थे...। कभी अपनी ही कक्षा के किसी बच्चे के जाने-पहचाने अभिभावक को पहचान कर घूमते-फिरते या काम पर लगे इन बच्चों को बड़ी खुशी होती और लगे हाथों वे भी दो-चार गप्पें उन अभिभावकों से कर लिया करते थे।

कक्षाओं में उस दिन कुछ छूट होती थी। टीचरों की गैर-मौजूदगी में कई किस्म की मौज-मस्ती चलती थी। हॉल के निकट बनी कक्षाओं के मॉनीटर विशेष सचेत रहा करते थे और बाहर शोर न जाने देने का भरसक प्रयत्न करते थे। किसके अभिभावक आए, कौन आया-मम्मी, पापा या अन्य बड़े, किसके अभिभावक नहीं आएंगे या अगर आएंगे तो कब तक, किसका बुलावा आया है, क्या कहा किसी टीचर ने अभिभावक के सामने, कहीं उस टीचर ने होमवर्क का जिक्र कर दिया तो या इस विषय में कम नम्बर आएं हैं, अब इसके टीचर के सामने माता-पिता को कैसे ले जाएं, क्या होगा, ...लौटकर आए बच्चों का कैसा अनुभव रहा, किस-किसके अभिभावक अब तक आ चुके हैं... आदि-आदि..., उस दिन इन्हीं तमाम बातों की चर्चा कक्षा में विशेष रूप से छायी रहती।

पोजीशन, प्रतिशत, नम्बर, इम्तिहान, होमवर्क आदि तो चर्चा का मूल विषय होता ही था। पर इसके अतिरिक्त कुछ अभिभावक

अपने बच्चों की कोई निजी समस्या भी कभी-कभी उठाते थे। या कभी-कभी टीचर ही इन व्यक्तिगत समस्याओं का जिक्र छेड़ा करते थे। यह बच्चा बिगड़ गया है..., हाथ से जा रहा है, बदतमीजी से बात करता है, टाइम के प्रति लापरवाह है, फिल्मों में इसका ज्यादा मन रमता है, ...क्लास बंक करके आवारागर्दी करता है... घर से तो स्कूल जाने की ही बात कहकर आता है; पर यहाँ नहीं आता... कहीं और घूमता रहता है, बुरी संगत है इसकी, कक्षा से नदारद रहता है... आदि-आदि। फिर दोनों ओर से अभिभावक भी और टीचर भी अपनी सारी भड़ास निकालते थे,... बच्चे को कभी डांट पड़ती तो कभी समझाया जाता... कभी-कभी धमकाया जाता, डर दिखाया जाता ...उसका आगे क्या किया जाए, इसपर बात होती। पढ़ाई छुड़वा देने, स्कूल से निकाल देने, ठुकाई किए जाने जैसी धमकियों का कुछ तथाकथित 'बिगड़े' बच्चों पर खास असर नहीं पड़ता था। वह बच्चा सब सुनता रहता और शायद मन ही मन कहता- 'हुँ कहलो जो कहना है। ...ताने सुनते-सुनते अब उनकी आदत हो गई है। मैं, तो वहीं करूंगा जो मेरा मन कहेगा...।' पढ़ाई में कमजोर कुछ लड़कियों के भविष्य के बारे में कभी-कभी चर्चा यह तक होती कि इनकी तो शादी कर देंगे।

बच्चों के भविष्य के बारे में भी चर्चा होती। "आप अपने बच्चे को क्या बनाना चाहते हो?" - कुछ टीचर पूछते। जवाब में अभिभावक अपने सपने, अपनी आशाएं, अपनी अपेक्षाएं बता देते - डॉक्टर, टीचर, इंजीनियर, बिजनस करायेंगे आदि-आदि। अभी से इसके लिए क्या किया जाए, कुछ अभिभावक यह चिंता भी दर्शाते। टीचर अपनी सलाहें देते। ...बच्चों की राय विशेष मायने नहीं रखती थी! पर कुछ अभिभावक अपने बच्चे के किसी विशेष हुनर, जैसे - खेलों में उसकी योग्यता, संगीत में उसके द्वारा विशेष महारत हांसिल करने आदि की भी चर्चा करते। पर कुल मिलाकर इस प्रकार की चर्चा कम ही होती। चर्चा का मुख्य विषय, पढ़ाई में उनके बच्चे का स्तर ही रहता था।

कुछ अभिभावक (शायद बहुत कम ही) बच्चे द्वारा बतायी गई खबरों के आधार पर टीचरों की या स्कूल की शिकायतें भी प्रस्तुत करते

थे। वे हक के साथ अपना पक्ष रखते - आप क्लास में रोज नहीं आते हैं, आपने इसकी कॉपी बहुत समय से चैक नहीं की, आपने इसके नम्बर क्यों काटे; इसने तो ठीक लिखा था, आप ही क्यों नहीं इसे ट्यूशन पढ़ा देते ..... आदि-आदि। टीचर अपनी अनगिनत जस्टीफिकेशन देकर, बच्चों पर ही सारा अपराध या सारी जिम्मेदारी लादने की ताक में रहते या फिर वे अन्य सरकारी कामों में अपनी व्यस्तता का रोना रोते थे।

कई बार कॉनटेक्ट्स (Contacts) बनाने का काम भी बखूबी होता था और तब बच्चे के अस्तित्व को कुछ समय के लिए भुला, कुछ टीचर सामने बैठे कुछ अभिभावकों से बिज़नेस की बातें, शेयर की सलाहें, इंकमटेक्स संबंधी सलाहें, बैंक की नई स्कीमों के बारे में जानकारी आदि लेने में लीन हो जाते थे। वे हर सम्भव तरीके से कॉनटेक्ट्स बनाने, फायदा उठाने का प्रयास भी करते दिखते। आखिर सामने बैठे उस उपयोगी अभिभावक का बच्चा, उन्हीं के हाथ में तो था ...और फिर अचानक उन्हें सामने खड़े उस बच्चे की कीमत का अंदाजा होता था और वे उसकी ओर ध्यान से देख, मंद-मंद मुस्कराते थे। कभी-कभी कुछ अभिभावक ही अनुकूल माहौल पाकर कुछ टीचरों को मक्खन लगाया करते!

इस तरह, इस प्रकार की मीटिंग के दौर साल में लगभग दो-एक बार आते थे। बच्चों के अतीत, वर्तमान और भविष्य पर अपनी-अपनी टिप्पणियां करके अभिभावक और टीचर अपनी जिम्मेदारी के बोझ को कुछ हल्का महसूस करते। पर कभी-कभी अभिभावकों की चिंताए इन मीटिंगों में प्राप्त नई जानकारियों के बाद और भी बढ़ जाती थीं और अपने बच्चे के प्रति वे और सतर्क हो जाते थे। बच्चे इन मीटिंगों से या तो डरे-सहमे, परेशान या असंतुष्ट रहते अथवा इनके प्रति उदासीन रवैया अपनाते। या फिर इन मीटिंगों के दौरान कक्षाओं में मिली कुछ समय की छूट का भरपूर आनंद उठा, धीरे-धीरे वे इन मीटिंगों को भूल जाते थे...।

● ● ●

धर्म और जाति

धर्म और जाति की दृष्टि से हमारे स्कूल-कॉलेज का वातावरण सकारात्मक ही अधिक था। विविध धर्मों, जातियों के लोग मिल जुलकर रहते थे। मुझे याद है कि हमारे बीच रहने वाले कुछ मुस्लिम साथियों को हम ईद की मुबारकबाद भी देते और कभी-कभी वे हमें ईद की सेवैंया भी खिलाया करते थे।

पर फिर भी कहीं-कहीं, कभी-कभी, रोजमर्रा के अनुभवों में, धर्म और जाति की भिन्नता और अंतर का अहसास हो जाता था। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो इन पर आधारित संकीर्णता के परिचायक हैं।

कास्ट या जाति संबंधी तहकीकात टीचर और बच्चे आपस में किया करते थे। पर यह भेदभाव नहीं था, महज तहकीकात ही थी। आपसी व्यवहार में सिख धर्म के लोगों के प्रति कुछ अन्याय अवश्य किया जाता था...

"ओए सरदार! इधर आ...।"- कड़े और गुस्से से भरे कर्कश स्वर में, दांत भीजते हुए, हमारे स्कूल के एक टीचर पुकारा करते थे। उनके स्वर, उनके बोलने के लहजे, उनके चेहरे से साफ झलकता था कि सरदारों के प्रति उनके मन में कोई न कोई पूर्वाग्रह और आक्रोश भरा है।

"बारह बज गए क्या?", "लगता है बारह बज गए!", "अरे भई, तुझे पता नहीं बारह बज चुके है!" ... सरदार या सिख बच्चों को छेड़ते हुए ये वाक्य आमतौर पर बच्चों में प्रचलित थे। कितना अतार्किक और ओछा था यह मजाक! पर यह था काफी प्रचलित और ऐसे में कुछ सिख बच्चे खिसिया कर रह जाते ...तो कुछ को गुस्सा आ जाता था। सबके साथ हिल-मिलकर रह रहे सिख बच्चों पर किए गए ये कटाक्ष अचानक उन्हें यह अहसास करा जाते कि वे सबसे अलग हैं, कुछ भिन्न हैं...। 'सरदारों के चुटकले' भी काफी प्रचलित थे, जिनमें सरदारों को प्रायः बेवकूफ ठहराते हुए भद्दे मजाक होते थे। कितना चुभते होंगे ये सिख बच्चों को! पर कुछ सिख बच्चों ने इनकी आदत डाल ली थी

और कई बार वे स्वयं भी इस हँसी-मजाक में शामिल हो लेते थे। ऊपर से [redacted] दिखाई, ...पर कभी-न-कभी तो चुभती होगी यह [redacted] कि वे अन्यों से कुछ अलग हैं। जिसे इतिहास ने अन्यों से कुछ अलग है, शायद कुछ हीन माने जाते हैं क्योंकि वे हिन्दू नहीं, सिख हैं ...उनका मज़हब अलग है! और भिन्नता का यह अहसास, अलग होने की यह भावना ...जाने-अनजाने दिलों में भी तो दूरी पैदा करती है, परायेपन का संकेत देती है...।

इस किस्म के चालू मजाकों का मैं कई बार विरोध करती थी. .. कई साथियों को कहती कि ऐसा न कहा करें ...नाराजगी जाहिर करती। इस प्रयास में कई बार स्वयं भी मजाक का पात्र बनती थी। कुछ सहपाठी जान बूझकर मेरे सामने ऐसे मजाक दोहराते और मेरी प्रतिक्रिया का मजा लेते। तो कुछ मुझपर तरस खाते और ''अरे भई, इसके सामने सरदारों वाला चुटकला नहीं...'' - यह कहते हुए अन्यों को चुप कराते। पर ये मजाक इतने प्रचलित थे कि यहाँ-वहाँ आते-जाते कानों में पड़ ही जाते थे। मुझे खीझ होती थी इन पर । कभी-कभी मैं हथियार डाल देती और चुपचाप सुनती रहती। पर मन में टीस उठती थी। जरा सोचिए, किसी संवेदनशील सिख बच्चे के मन पर क्या गुजरती होगी! कैसे बनाया होगा, अपने को, इस सब का आदी उसने...। अलग होने का यह अहसास कैसी चुभन-सी पैदा करता होगा उसके हृदय में...।

● ● ●

प्रायः एस.सी (S.C) एस.टी. (S.T.) हमारे साथ घुल मिलकर रहते थे और अलग होने का कोई अहसास आमतौर पर नहीं होता था। पर फीस माफी संबंधी कागजात या निःशुल्क किताबें आदि लेने जाते हुए, इस सबके लिए भाग दौड़ करते हुए ये बच्चे, कुछ समय के लिए अन्यों से अलग-थलग अवश्य पड़ जाते थे। जब आरक्षण आदि के मुद्दे समाज में काफी उछले; तो ये विभाजक रेखाएं स्कूल के माहौल में कुछ उभर कर प्रकट हुईं। जिन दिनों मण्डल कमीशन का मुद्दा उछला था, तब हम पांचवी या छठी कक्षा में थे। बड़ी कक्षाओं में, ऐसा सुनने में आता था कि, इसको लेकर गर्मागर्मी रहती थी। हम तो अभी बच्चे थे।

[redacted] पर फिर भी, हमारी कक्षा में भी उन दिनों श्री वी.पी. सिंह का [redacted] मजाक उड़ाया जाता था। जिन दिनों मण्डल कमीशन के पक्ष में [redacted] द्वारा भारी विरोध प्रदर्शन करने और आत्मदाह तक के [redacted] उन दिनों कई दफे हमारा स्कूल बंद रखना [redacted], मुझे याद है कि, हमें सब खिड़कियां-दरवाजे कसकर बंद [redacted] क्योंकि बड़ी कक्षाओं की तरफ से काफी शोर आ रहा था और शायद कुछ तोड़-फोड़ भी हो रही थी। एक-दो दिन की छुट्टी के बाद हम जब, इसके बाद, स्कूल पहुँचे तो हमने कुछ खिड़कियों के शीशों को टूटा पाया और कुछ फर्नीचर भी उलट-पुलट हो गया था। पर इस प्रकार का माहौल कुछ समय तक ही रहा और धीरे-धीरे सब सामान्य होता गया।

● ● ●

ग्यारहवीं-बारहवीं कक्षा में हमें इतिहास पढ़ाने वाली टीचर बच्चों से मधुर व्यवहार रखती थीं और इसलिए कुछ लोकप्रिय भी थीं। पर कभी-कभी उनके पढ़ाने के लहजे से हिन्दुत्व की भावनाएं प्रकट होती थीं। उन दिनों एन.सी.ई.आर.टी से कोई छेड़छाड़ नहीं हुई थी और इतिहास की एन.सी.ई.आर.टी. की ग्यारहवी-बारहवीं की पुस्तकें कुल मिलाकर स्वस्थ ढंग-से लिखी हुई थीं। पर हमारी इस टीचर ने एन.सी. ई.आर.टी को यह कहकर उपेक्षित किया कि यह अपर्याप्त है या भाषा कठिन है या टॉपिक्स नहीं है..... आदि। उन्होंने इसके स्थान पर ऐसी बुक लगवाई जिसमें कुछ स्थानों पर हिन्दुत्ववादी विचार प्रकट होते थे। मैंने जिद करके अपना ध्यान एन.सी.ई.आर.टी. पर ही केन्द्रित रखा।

उनके विषय में अव्वल आने वाली छात्रा के रूप में उन्होंने मुझे प्रोत्साहित तो किया। पर साथ ही वह कई बार मुझे उनकी लगवाई गई बुक पढ़ने को प्रेरित भी करती रहतीं थी। मैंने वह पुस्तक खरीद तो ली थी; पर किसी न किसी तरह, झूठ बोलकर या कोई बहाना बनाकर मैं उसे पढ़ने से बचती रही (अब लगता है, अगर उसे कभी ध्यान से देखा होता या उसके त्रुटिपूर्ण प्रसंगों को मार्क कर लिया होता और उसे मैं साल खत्म होते ही रद्दी में न दे देती; तो आपको यहाँ अधिक ठोस

जानकारी दे पाती!)। एक बार कक्षा में हो रही बातचीत के दौरान उन्होंने आर.एस.एस संबंधी एकाध प्रश्न पूछे। कोई उत्तर न दे पाया तो, वह कुछ नाराज नज़र आयीं। इतिहास की विभिन्न लड़ाईयों को हिन्दू-मुस्लिम लड़ाईयों के रूप में पेश करना, हिन्दू राजाओं को विशेष खूबियों वाले नायक के रूप में पेश करना जैसे तत्त्व उनकी पढ़ाई में कभी-कभी शामिल होते थे। मैं उन्हें भांप गई थी, अतः एक स्टूडेंट के रूप में मैं सावधानी बरतती रही। अपने खुले ख्यालात उनके सामने कभी प्रकट नहीं किए। कक्षा में उस समय कोई मुस्लिम भी न था कि उसके साथ अन्याय होता लगता। कुछ डरपोक तो मैं थी ही ...और उस समय पढ़ाई के बोझ से दबी स्टूडेंट अधिक थी। खैर, उनकी पढ़ाई के दौरान चुपचाप रहकर मैं समय काटती और घर में अपने ढंग-से पढ़ती रही।

● ● ●

ताला

टन-टन-टन-टन। प्रार्थना सभा समाप्त हुई और स्कूल के गेट पर चौकीदार ने, लेट आए कुछ बच्चों को अंदर घुसा कर, भीतर से दरवाजा बंद कर, एक मोटा-सा ताला लगा दिया। अब-सब बच्चे अंदर कैद थे। यह ताला अब छुट्टी होने तक लटका रहेगा। बीच-बीच में खुलेगा भी। पर खुलेगा तो केवल स्कूल के स्टाफ, किसी टीचर या कर्मचारी आदि के आने-जाने के लिए या स्कूल के किसी काम से बाहर भेजे जाने वाले बच्चों के लिए (जिनके पास टीचर/प्रिन्सिपल के साइन किया हुआ कागज का पुर्जा होता था)। अन्यथा यह ताला बंद ही रहेगा और स्कूल के अनुशासन की चारदीवारी में बच्चों को बंद रखेगा।

● ● ●

अंदर, लाइब्रेरी की तरफ चलें। अरे! यहाँ भी तालों का भरपूर प्रयोग हुआ है। छोटे-बड़े कई किस्म के ताले। शीशे की अल्मारियों - शैल्फों में बंद, रंगीन-आकर्षक पुस्तकें... अनगिनत विषयों पर, अनगिनत किस्म की पुस्तकें। पर सब बंद। बच्चों की पहुँच से दूर। ताले की गिरफ्त में कैद! कभी-कभी किसी टीचर के लिए या किसी टीचर की सिफारिश ले आए बच्चे के लिए, या किसी प्रतियोगिता की तैयारी करते बच्चों के लिए, किसी अल्मारी का ताला खुलता था...। असंख्य हिदायतों के बाद, रजिस्टर में साईन आदि कराकर, कुछ दिनों या कुछ देर के लिए कोई पुस्तक इश्यू होती थी। पर ऐसे अवसर कम ही होते थे।

रोचक, आकर्षक दिखने वाली असंख्य किताबें बड़ी-छोटी अल्मारियों में कैद रहती थी। बच्चों से दूर। तालों की गिरफ्त में! कभी-कभी पढ़ने के लिए बच्चों को, बाहर मेज पर फैली फटी-पुरानी पत्रिकाएं दी जाती थीं और वे भी पीरियड खत्म होने से पहले लौटा देनी होती थीं। तिसपर उन जर्जर पत्रिकाओं को बीस-पच्चीस मिनट तक पढ़ने के लिए भी असंख्य हिदायतें मिलती थीं - 'फाड़ना मत', 'ठीक से पकड़ो', 'पन्ने-पलटने में इतनी आवाज क्यों करते हो', 'खबरदार,

अगर थोड़ा-भी फटा तो...', 'ठीक-से रखकर जाना' ...आदि-आदि। मानो हम जंगलियों को 'सभ्य' ढंग-से पुस्तक पढ़ना सिखाया जा रहा हो! कई बार लाइब्रेरी के पीरियड में ये हिदायतें भी नसीब नहीं होती थीं और हमसे मुँह पर उंगली रखकर बैठने को या चुपचाप बैठने को कहा जाता था। शोर मचाने या लेट पहुँचने पर कभी-कभी सजा भी मिलती - पीछे जाकर जहाँ प्रायः रद्दी रखी जाती थी, उस जगह की सफाई करो या खड़े रहो।

सामने शीशे की बड़ी-छोटी अलमारियों में सजी पुस्तकों को, चुपचाप निहारते रहने के सिवा कोई चारा न था। उन अलमारियों पर लगे थे ताले। ये ताले हमसे दूर करते थे पुस्तकों को, हमें वंचित करते थे किताबों की (पाठ्यक्रम की किताबों से अलग किताबें) रोचक दुनिया से!

● ● ●

"देख लो भई! अब तुम लोग। ...इतनी मेहनत की हुई है, इन रजिस्टरों में तुमने। कहीं गुम न हो जाएं ये, ...चोरी न हो जाएँ।... इनकी सुरक्षा की जिम्मेवारी सब अपनी-अपनी सम्भाल लें .....। मैं तो कहूँगी, अच्छा हो अगर तुम लोग अपने बैगों के लिए एक-एक छोटा ताला खरीदकर लगा दो। आजकल कुछ पता नहीं...। कोई भरोसा नहीं...।" - कुछ ऐसे ही शब्द थे हमारी अंग्रेजी भाषा की प्रिय टीचर के। हम उनका सम्मान करते थे और हमें उनकी बात जची भी।

उस दिन घर लौटकर मैंने फरमाइश की थी - "मुझे एक छोटा ताला चाहिए। ....बैग पर लगाना है। कहीं मेरा अंग्रेजी का रजिस्टर न चोरी हो जाए...।"

और फिर हममें से कुछ ने छोटा ताला लगाना शुरू किया था, अपने बस्तों पर। दरअसल, ताले से पूर्व चोरी का भय इतना न रहता था। ताले के जिक्र ने ही, अविश्वास का - सा माहौल बनाया था कक्षा में। आजकल किसका भरोसा! बेहतर है, 'ताला' लगा लो।

● ● ●

'चुप रहो', 'शांत हो जाओ', 'खामोश', 'मुँह बंद नहीं होता तुम्हारा!', ...'पिन-ड्रॉप (Pin-drop) साइलेंस', 'बिल्कुल आवाज न आए', 'तुम्हारा मुँह क्यों बार-बार खुल रहा है', 'बिल्कुल चुप' ...-ये हिदायतें बचपन से हम सुनते आए थे, ...कक्षा में, कॉरीडोरों में, प्रार्थना सभा - मैदान में, लाइब्रेरी में...। जब छोटी कक्षाओं में थे तो, मुझे याद है कई बार लम्बे-लम्बे समय तक मुँह पर उंगली रखकर बैठना पड़ता था। बोलने की, बातें करने की मनाही कर दी जाती थी।

इस सबका अर्थ था, मुँह पर ताला लगा लो। कुछ बाहर न आने पाए। मन के विचार, भावनाएं अंदर ही हिलोरें मारते रहें और अंदर-ही-अंदर उठक-पटक कर धीरे-धीरे लुप्त हो जाएं। अंदर-ही-अंदर घुट जाएं - खत्म हो जाएं। और ऐसा न किया तो डाँट पड़ेगी, मार भी पड़ सकती है, सजा भी मिल सकती है। "सर, यह बोल रहा था", "मैडम, यह बातें कर रही थी" - ये सबसे सामान्य चुगलियां थीं, जो प्रायः मॉनीटर या अन्य कुछ बच्चे टीचरों से किया करते थे। अतः, भलाई इसी में थी कि चुप रहो, बोलो मत, मुँह पर ताला लगा लो। अगर ये ताले काल्पनिक न होकर, सचमुच के होते; तो जरा सोचिए कैसा दृश्य होता स्कूल में! हर जगह, असंख्य बच्चे मुँह पर छोटे-बड़े ताले लटकाए नजर आते! पर नहीं, ये तो काल्पनिक ताले ही थे, जो डर से लगाए जाते थे। इन काल्पनिक तालों को बंद रखने के लिए अंदर-ही-अंदर बहुत मशक्कत करनी पड़ती थी, अपनी सहज-स्वाभाविक भावनाओं या विचारों का गला घोटना पड़ता था और जब बर्दाश्त न हो पाए तो बोलो, बात करो और फिर उसकी सजा पाओ! अतः यथा सम्भव बच्चों को इन तालों को बंद रखने की कोशिश करनी ही पड़ती थी। आधी छुट्टी या पूरी छुट्टी में ये ताले फटाक से खुलकर, इधर-उधर फैंक दिए जाते थे। पर पीरियड शुरू होते या टीचर के कक्षा में आते ही पुनः टंग जाते थे ये ताले, मुँह पर।

● ● ●

खुल कर सोचने, नई-नई बाते सोचने, कल्पना की नई-नई

उड़ाने भरने, नए-नए प्रश्न खड़े करने, सहज रूप से मन में उठ रही हलचलों को बाहर अभिव्यक्त होने देने - इस सबके लिए अनुकूल माहौल नहीं था, इस व्यवस्था में। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता, मानो इन सब पर भी बड़ा-सा ताला लगाने की कोशिश की जा रही है। पर नहीं, मात्र ताले इनका इलाज नहीं थे। तालों के भीतर भी ये बातें फल-फूल सकती थीं। अतः, माहौल को इतना सतही, इतना खोखला व उदासीन बना दो कि तालों के भीतर कैद ही, ये हिलोरें बेमौत मारी जाएं! जड़-से हिला दो इन्हें ....ऐसा माहौल बना दो कि नई हिलोरें पुनः जन्म ही न लेने पाएं! इनके लिए व्यवस्था का ताला ही पर्याप्त नहीं था।

● ● ●

तालों की चाभियां इस व्यवस्था के समर्थकों की जेब में हैं। उन्हें वहां से चुरा कर भी तो ताले खोले जा सकते हैं। पर हम ऐसा क्यों करें? यह तो चोरी होगी! ...और चोरी ज्यादा समय तक नहीं चलती। तो फिर क्या करें? क्या ताले तोड़ दें? ताले तोड़े जा सकते हैं और तालों को टूटना ही होगा। पर क्या ही अच्छा हो कि कुछ ताला लगाने वाले भी, ताले तोड़ने की इस प्रक्रिया में शामिल हो जाएं। यह तो एक सपना है। सपना तो आखिर सपना ही है न! सपना भी तो टूट सकता है! पर खैर, इतना तो पक्का है कि ताले प्रतीक हैं - गुलामी का, कैद का, परतंत्रता का, शोषण का। सहजता को, बचपन को, इंसानियत को कैद करने के, रोकने के, दबाने के काम लाए जाते हैं - ये ताले और इसलिए जरूरी है, इनका टूटना या इनका खुलना...

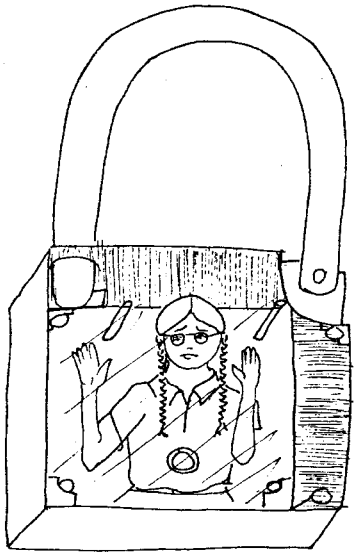

● ● ●

शिक्षा के उद्देश्य

कुछ समय पहले मैंने भारत की शिक्षा नीतियों, शिक्षाविदों के विचारों, शिक्षा संबंधी कुछ योजनाओं के बारे में पढ़ा था। कई बड़ी-बड़ी बातें, आकर्षक विचार मुझे पढ़ने को मिले। शिक्षा क्या है, क्यों है, कैसी है, उसके उद्देश्य क्या हैं, वह हमें कहाँ ले जा रही है ...ऐसे अनगिनत प्रश्न, जो मेरे मन में उठा करते थे ...अब और भी उद्वेलित हुए। उन बड़ी-बड़ी बातों की तुलना जब हकीकत से की; तो मन और बेचैन हो उठा।

मुझे लगा, कहने को तो शिक्षा व्यवस्था से कई उद्देश्य पूरे होते लगते है; पर महज औपचारिकता निभाने के लिए, सतही तौर पर...। सही मायने में इनकी मौजूदगी का अहसास नहीं हो पाता। बल्कि कई बार लगा कि... अरे! यह तो उद्देश्य से ठीक विपरीत स्थिति है!

जब भी 'बिगड़े हुए' कहकर दुत्कारे हुए या 'फेलियर' का ठप्पा लगाकर उपेक्षित कर दिए गए बच्चों के चेहरे, मेरे मानसपटल पर उभरते हैं; तब-तब मन में यह प्रश्न भी गूंजता है कि शिक्षा ने इन्हें क्या दिया, इनके लिए क्या किया...? इनकी वर्तमान दशा के लिए जिम्मेदार व्यवस्था ने अपना कौन-सा या कैसा उद्देश्य पूरा किया?

मुझे याद है, जैसे-जैसे हम बड़ी कक्षाओं में पहुँचते गए और पढ़ाई का बोझ बढ़ता गया (विशेषकर बोर्ड की कक्षाओं में); वैसे-वैसे हममें से कई बच्चों की सेहत भी गिरती गई। प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता की असीमित दौड़ में अच्छा स्वास्थ्य न जाने कहां खोता गया। आपसी बातचीत में कभी-कभी हम अपनी गिरती सेहत का जिक्र भी किया करते थे-सिरदर्द, निरन्तर तनावग्रस्त रहने से उत्पन्न व्यवहार संबंधी समस्याएं जैसे चिड़चिड़ापन या गुस्सा अधिक आना, भूख कम लगना और कमजोर होते जाना, भूख जरूरत से ज्यादा लगना, मोटापा, आँखों में दर्द, बंद कमरों में पढ़ते रहने से बढ़ती नज़ले-जुकाम संबंधी शिकायतें, नींद संबंधी विकार ...आदि। कभी-कभी तो पढ़ाई-कैरियर संबंधी चिंताओं और बढ़ते बोझ का स्वास्थ्य पर असर लम्बे समय तक

रहता था। इन सबसे चिंतित होते, इनपर चर्चा करते, दवाओं के सहारे किसी तरह अपने को व्यवस्था के लिए फिट बनाए रखने के प्रयास करते हुए...; यह बात सपने में भी हमारे मन में न कौंधती थी कि दूर कहीं बड़ी सभाओं में, बड़े आयोजनों में ..... विद्यार्थियों के शारीरिक-मानसिक विकास को शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य बतलाकर उसपर चर्चा हो रही है!

मुझे आज भी अच्छी तरह से याद हैं वे चेहरे जो चिंतित, तनावग्रस्त और पूरी तरह व्यस्त होते थे। पलकें कई बार मुंदती थीं, तो कई बार खुलती थीं ...होंठ हिलते रहते थे, निकट जाओ तो फुसफुसाहट-सी सुनाई देती थी, आँखें कई बार गढ़ जाती थीं, पुस्तकों-कॉपियों में...। हाँ, वही चेहरे जो रट्टाफिकेशन में व्यस्त विद्यार्थियों के चेहरे थे... अच्छी तरह याद हैं मुझे। उन चेहरों की याद आते ही मन में प्रश्न कौंधता - यह कैसा मानसिक विकास हो रहा है यहाँ ?

'रचनात्मकता' शब्द का उल्लेख होते ही याद आती है उन तमाम साथियों की जिनकी रचनात्मक प्रतिभा दबी की दबी रह गई! ठीक-से उभर न पायी या पहचानी ही न गई। क्योंकि वे तथाकथित 'बिगड़े हुए', पिछड़े हुए या 'फेलियर' स्टूडेंट थे।

मैं प्रतियोगिताओं में भाग लेने से प्रायः कतराया करती थी। मुझे प्रतियोगिता का माहौल ही घुटन भरा लगता था। मुझे याद है दो-तीन बार (अलग-अलग अवसरों पर) मैं रचनात्मक लेखन प्रतियोगिता में बैठी और कुछ न लिख पायी। जैसे-तैसे, किसी तरह, शीटों पर कुछ न कुछ बेसिर पैर का लिख मैंने पीछा छुड़ाया और हर बार कसम खायी कि आइंदा से कभी ऐसी प्रतियोगिता में नहीं बैठूंगी। एक बार ऐसा भी हुआ कि एक रोचक से विषय पर घर से लिखकर लाने को कहा गया। घर में तो मेरे पास भरपूर समय था, खुला माहौल था... जितना मर्जी सोचो-विचारो। सो, अच्छा लिखा गया और स्कूल में भी पसंद किया गया। इस तरह के अनुभवों से मैं कभी-कभी हैरान होती थी। सोचा करती, यह वही दिमाग है न, जो घर में तो चलता है,... कई मौलिक विचार आते हैं तब....। पर यहाँ स्कूल में आकर क्या हो जाता है, बड़ी

अच्छी-अच्छी, गहरी बातें यहाँ स्कूल (अथवा कॉलेज) में क्यों नहीं दिमाग में आती! दिमाग तो वही है न! फिर क्या हो जाता है मुझे!... .. काफी बाद में जाकर मैं समझ पायी कि यह क्या था। यह था-माहौल का असर। एक बंद-से, उदासीन, बेबस वातावरण में, जहाँ आप खुश नहीं हैं..., जहाँ आप तरह-तरह के बंधनों में जकड़े हैं,... जो आपके मन के, आपकी आत्मा के प्रतिकूल है...; वहाँ... वहाँ आप खुलकर सोच-विचार नहीं सकते, अच्छी-अच्छी कल्पनाएं नहीं कर सकते।

> जहाँ हर चीज दूसरों के निर्देशों के अनुसार होती हो.... वहाँ अपनी मौलिकता को अधिक समय तक बचाकर आप नहीं रख सकते। फिर मेरा दिमाग इस व्यवस्था रूपी मशीन का मशीनी पुर्जा पूरी तरह नहीं बन पाया था; जो 'रचनात्मकता' नामक बटन दबाते ही मौलिक चिंतन शुरू कर देता। वह तो अभी भी एक इंसानी दिमाग ही था, जिसके लिए दिल और आत्मा के साथ होने की बहुत जरूरत थी (जो वहां दबे हुए थे या नदारद थे)।

मुझे कुछ बड़ी कक्षाओं का वह दृश्य अच्छी तरह से याद है. .. जब हम सब गंभीर चेहरे लिए, बड़ी गंभीरतापूर्वक, कोई विषय समझाती टीचर की ओर ताक रहे होते थे। ऊपर से देखो तो लगेगा कि वाह! कितनी ध्यान से, कितनी गंभीरता से पढ़ाई चल रही है यहाँ। मानसिक क्षितिज कितना विस्तृत हो रहा है विद्यार्थियों का। कौन कहता है, यहां पढ़ाई नहीं होती...। देखो पढ़ाई तो बखूबी, गंभीरतापूर्वक चल रही है।... पर ऊपरी तौर पर देखकर ही क्या आप संतुष्ट हो जाएंगे? क्या इसी से आप अंदाजा लगा लेंगे कि शिक्षा विद्यार्थियों के मानसिक विकास के उद्देश्य की भली-भांति पूर्ति कर रही है। ठहरिए, जरा रूकिए, निर्णय लेने में इतनी जल्दबाजी क्यों? जरा जानिए तो सही, इस कक्षा की सारी गंभीरता किस पर केन्द्रित है। यहाँ बैठे समस्त विद्यार्थी और टीचर गंभीरतापूर्वक इस बात पर माथा-पच्ची कर रहे हैं कि अमुक कविता के अमुक छंद की अमुक पंक्ति में कवि ने नायिका का कैसा नखशिख वर्णन किया है! क्या जाने इसी पंक्ति में सारी सृष्टि का

रहस्य छिपा हो! इसी का ठीक से वर्णन कर पाने पर ही तो सिद्ध हो पायेगा कि सामने बैठी टीचर का मस्तिष्क कितना विकसित है! उस पंक्ति के अर्थ को आत्मसात कर, याद रख पाने पर ही तो सिद्ध हो पायेगा कि इस शिक्षा का उद्देश्य कुछ पूरा हुआ, यानि विद्यार्थीयों का मानसिक विकास हो पाया। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह छंद परीक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। अतः इस पंक्ति की सही-सही व्याख्या तो करनी ही होगी। तभी तो शिक्षा का उद्देश्य पूरा होगा! मानसिक विकास का अर्थ सोचने-विचारने, मौलिक चिंतन करने, नए-नए प्रश्न खड़े करने या तर्क की कसौटी पर हर बात को परखने या अपने मस्तिष्क को इतना विकसित कर पाने कि समाज की भलाई के लिए उसका सदुपयोग हो सके... पर... यह सब रहने दीजिए। ये किताबी बाते हैं... शिक्षा नीतियों में लिखने के लिए हैं, शिक्षाविदों के ही मुख पर शोभा देती हैं। यहाँ तो अमुक कविता के अमुक छंद में वर्णित नायिका के नखशिख वर्णन की सही व्याख्या कर सकना ही मानसिक उन्नति का द्योतक है। कविता परीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अर्थ जानने से फायदा है, नम्बर अच्छे मिलेंगे। अच्छे नम्बर, अच्छे मानसिक विकास का सूचक हैं। तो हो गया उद्देश्य पूरा! हो गए आप संतुष्ट! यदि हाँ, तो आगे बढ़ जाइए। आपको अन्य कुछ कक्षाओं में भी पूरे होते दिखेंगे, इसी तरह, शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य। क्या कहा?..... आप संतुष्ट नहीं हैं। तो सोचिए न, वास्तव में कहाँ गए शिक्षा के उद्देश्य?

मुझे याद है साधना का वह चेहरा, जो घमण्ड से चूर रहता था। वह बहुत कम समय के लिए मेरे साथ पढ़ी थी। टीचरों की चहेती बन गई थी वह! हर जगह फस्ट आने वाली साधना। बड़ों की प्रशंसा की पात्र। सबके बीच रहकर भी, सबसे अनजान रहने का प्रयास करती। सबसे कटकर रही थी वह। यूँ कटने से ही तो वह अलग दिखती थी सबसे!... सबसे ऊपर... सर्वोच्च! व्यवस्था उसे सफलता के ठप्पे लगा रही थी। पर व्यवस्था ने कभी यह नहीं सोचा कि किस किस्म का सामाजिक विकास हो रहा था उसका!

एक जबरदस्त बेचैनी से मैं दिन-ब-दिन छटपटाती रहती थी। जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गई, मेरे सोचने-समझने की क्षमताएँ कुछ विकसित होती गई; वैसे-वैसे मैं अपने माता-पिता के सामाजिक कार्यों में अधिकाधिक रूचि लेने लगी। मुझे अपने माता-पिता द्वारा किए जाने वाले सामाजिक सुधार या सामाजिक बदलाव संबंधी कार्यों ने अपनी ओर आकर्षित करना शुरू किया। मैं भी उनमें शामिल होना चाहती थी, उन्हें समझना चाहती थी। पर इधर मेरी ऐसी इच्छाएं बलवती हो रही थीं; उधर पढ़ाई का बोझ बढ़ता जा रहा था। मेरी किताबें, मेरा कोर्स, मेरे विषय, मेरे अध्यापकगण मुझसे अधिक से अधिक समय मांगते थे। पर मेरा मन था कि बार-बार उन्हीं कार्यों की ओर भागता था, जो मेरे माता-पिता कर रहे थे। मुझे वही ज्यादा सार्थक लगता था। अच्छे व सार्थक जीवन के ज्यादा लक्षण मुझे उन्हीं सामाजिक सरोकारों में नजर आते थे। किताबों से जो शिक्षा मिलती थी, जो आदर्श उनसे मन में पनपते थे; वे भी उन्हीं सामाजिक सरोकारों की ओर संकेत करते थे। पर परीक्षा की, परीक्षा-परिणाम की मांग कुछ और ही थी।... व्यवस्था की मांग कुछ और ही थी।... और मुझे निरन्तर पढ़ना था, परीक्षा की तैयारी करनी थी, मुझसे अच्छे नम्बर अपेक्षित किए गए थे, मेरी महत्त्वकाक्षांए उकसायी गई थीं...। और फिर, धीरे-धीरे मैं कटती गई... न सिर्फ उन सार्थक सामाजिक सरोकारों से... बल्कि अपने समाज से भी...। दूर होती गई मैं समाज से, अपनों से... समाज की छिछली अपेक्षाओं पर खरा उतरने के लिए, समाज की प्रशंसा पाने के लिए...। मैं अपनी पढ़ाई में ही व्यस्त होती गई थी...; पर यह बात मुझे अखरती भी रहती थी, बेचैन करती रहती थी...। क्या मेरा सामाजिक विकास हो रहा था?

मुझे याद है कि बड़ी कक्षाओं में और कॉलेज में, जब आपसी प्रतिस्पर्धा का दबाव बढ़ता जाता था; तब एक-दूसरे से छिपाने की, दूसरे के काम का श्रेय स्वयं ले जाने और परस्पर धोखा देने जैसी प्रवृत्तियां भी विद्यार्थियों के आपसी रिश्तों में हावी हो रही थीं। ऐसे वातावरण में नैतिकता, मानवता की बात करना विडंबना बन गया था। स्कूल-कॉलेज के माहौल में अश्लील बातें, भद्दे किस्म के मजाक... कुछ

अश्लील हरकतें भी प्रवेश करने लगी थीं। सोच-सोचकर हैरानी होती थी कि नैतिक-आध्यात्मिक विकास के उद्देश्य भला कहाँ, कैसे पूरे होते हैं?

बी.ए, एम.ए की डिग्रियां जुटाकर दर-दर नौकरी की तलाश में भटकते युवाओं को देखकर मन में प्रश्न उठता है कि कैसे कहें कि शिक्षा आर्थिक आत्मनिर्भरता का रास्ता तैयार कर रही है! अपने कुछ हमउम्र साथियों से बात की तो, यह बात भी उभर कर सामने आयी कि स्कूली शिक्षा का व्यावहारिक जीवन से कितना कम वास्ता है। विभिन्न कार्यों के लिए जिस व्यावहारिक ज्ञान, समझ की जरूरत है, वह स्कूली औपचारिक शिक्षा से बहुत कम मिला।

दसवीं तक मैं जिस स्कूल में पढ़ी थी, उसके प्रिंसिपल ने अपनी सीट के पीछे दीवार पर एक कोटेशन चिपका रखी थी -'Praise Loudly, Blame Softly.' (!) सोचती हूँ, क्या इसी को मानकर वास्तविकता से मुँह मोड़ा जा सकता है! ऐसे अनगिनत प्रश्न उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, मेरे मन में। इन पर जरा सोचिए तो। क्या आप कहेंगे कि शिक्षा व्यवस्था अपने उद्देश्यों को वास्तव में निभा रही है?

● ● ●

धुंध, पीपा और मशरूम

हमारे प्रार्थना-सभा या खेल के मैदान के एक कोने में, दीवार के निकट, एक जंग लगा पुराना पीपा (ड्रम) पड़ा रहता था। यह कुछ इस तरह पड़ा था कि दूर से रोलर लगता था, पर था पीपा। मैदान बहुत बड़ा था और उसके मुकाबले यह पीपा छोटा-सा एक कोने में दुबका पड़ा लगता था। पुराना था, जंग लगा, जर्जर; पर बच्चों ने उसकी उपेक्षा नहीं की थी। कुछ बच्चे उसपर बैठा करते थे, तो कुछ उसे लुढ़काकर घसीटने के असफल प्रयास करते थे। पर भारी होने के कारण और बहुत समय तक एक ही स्थान पर पड़ा रहने के कारण, वह पीपा टस से मस न होता था; मानो उन बच्चों के प्रयासों की उपेक्षा कर जहाँ का तहाँ जमा हो।

● ● ●

सर्दियों में सुबह-सुबह पूरा मैदान धुंध (फॉग) से ढका रहता था। प्रार्थना से पहले कई बच्चे ठिठुरते हुए इस धुंध का मजा लेते थे। इस धुंध में से होकर गुजरो तो जूते-जुराबें सब गीली हो जाती थीं। पर मस्त बच्चों को इसकी परवाह थी! धुंध में कुछ दूर तक निकल जाओ तो, आप साथियों को दिखना तक बंद हो जाते थे। इसी से कुछ बच्चों ने मजेदार खेल बना डाला था। छुपन-छुपाई! वह भी धुंध में! धुंध में दूर-दूर तक बच्चे निकल जाते थे और एक-दूसरे को खोजते। जब समय थोड़ा और आगे बढ़ता और धुंध छटने लगती; और फिर तब कोने में कहीं कोई दुबका-छिपा साथी खोज लेने पर बच्चे खूब खुश होते थे।

कुछ ही दूरी पर मैदान के निकट बने फुटपाथ पर खड़े बच्चे, वहीं से ही "पकड़ लिया... पकड़ लिया!," ..."वह देखो, वह रहा... " आदि चिल्लाते थे। कुछ अपने गीले हो चुके जूतों-मोजों को सुखाने की कोशिश करते नजर आते थे क्योंकि प्रार्थना के बाद कक्षाओं में लौटते समय होने वाली ड्रैस-चैकिंग के दौरान वे सजा पाना नहीं चाहते थे।

यह धुंध कभी-कभी अधिक प्रदूषण के कारण स्मॉग भी बन

जाती थी और इसके बीच चलने से अजीब-सी गंध नाक में भर जाती थी। पर खेल चल रहा हो तो, इसकी किसे परवाह थी।

● ● ●

बारिशों के बाद मैदान की हरी-गीली घास पर जगह-जगह सफेदी बिखर जाती थी। दूर-दूर तक सफेद-सफेद, गोले-से पौधे उग आते थे। ये जंगली मशरूम होते थे और कुछ छोटे बच्चे इन्हें एकत्र कर इनसे खेला करते थे। कुछ बड़े बच्चे, छोटे बच्चों को कभी-कभी यह समझाते दिखते-"अरे-अरे!... इसे मुँह में न डाल लेना! ये घर वाले, सब्जी के मशरूम नहीं हैं। अरे, ये जहरीले हैं...।" वे बच्चे बड़े थे, अनुभवी थे, खतरा भांप सकते थे और इसलिए समझाते, सलाह देते थे। पर कई बच्चे हरी-हरी गीली घास पर बिखरे बर्फ के गोलों जैसे दिखाई पड़ने वाले इन सफेद खुम्बों या मशरूमों को, एक न एक बार तो हाथ में उठाकर देखते ही थे। इनका कोई उपयोग तो न था; पर थे ये आकर्षक। कई बच्चे कोशिश करते कि ये खुम्बें उनके पैरों तले न रोदें जाएं।

● ● ●

काफी साल गुजर गए और एक दिन मुझे अपने वोटिंग कार्ड के किसी सिलसिले में, एक बार फिर, अपने स्कूल की इमारत में जाने का मौका मिला। स्कूल में तो तब छुट्टियां चल रहीं थी। बाहरी इलाके में बने कुछ कमरे चुनाव संबंधी कर्मचारियों को मिल गए थे। इंतजार करते समय मैंने अपने को उसी प्रार्थना या खेल के मैदान के निकट बने फुटपाथ पर खड़ा पाया। वहाँ की एक-एक चीज मुझे पुरानी यादों में डुबोए जा रही थी। दूर से, चिलचिलाती हुई धूप में, आँखें मिचमिचाते हुए; मैंने उसी पुराने, जंग लगे पीपे को उसी स्थान पर पड़े देखा और फिर देखती ही रही।..

मेरे मानसपटल पर कई पुराने चित्र उभरने लगे थे..., यहाँ तक की कई पुरानी आवाजें तक मेरे कानों में गूंजने लगी थीं और मैं पुरानी स्मृतियों में खो गई। कई बाते याद आयीं, जो मधुर यादें थीं... कुछ अब मजेदार मालूम पड़ीं। कई बातों की याद से मन भारी हो गया... और शिक्षा व्यवस्था की

अंतर्निहित खामियों... अन्याय पर क्रोध आने लगा ...।

यादों के इसी भंवर में... अचानक याद आयी मुझे वह धुंध... और याद आयीं वे मशरूम और आँखों के सामने था-वह जंग लगा, पुराना पीपा..., उससे जुड़ी यादें। सच में लगा मानो यह शिक्षा व्यवस्था उस पुराने पड़ चुके, जर्जर, जंग लगे पीपे की तरह ही है...; जो अपनी जगह पर वर्षों से चिपकी खड़ी है! हिलने का, किसी परिवर्तन का नाम ही नहीं लेती। अंदर तक उसमें जंग लगा हुआ है और न जाने कितने अन्यायों, कितने आडम्बरों के बोझ से भारी हो चुकी है..., टस से मस नहीं होती!...

हाँ, यह शिक्षा व्यवस्था वह धुंध ही तो है, जिसमें हम सब घुसे थे, खो गए थे, गुम हो गए थे... और आंसुओं से हमारे गाल, हमारी आँखें ठीक उसी तरह भीग जाती थीं; जैसे वह धुंध हमारे जूते-मोज़ों को भिगो देती थी!

...और वे मशरूम...। वे मशरूम हमारे सपने थे, जो उगते थे, सजते थे.... हर वर्षा में (अनुकूल माहौल पाकर)...। पर जो अनुपयोगी थे! 'बड़ों की दुनिया' की नजर से हमारे वे सपने बेकार थे, यहाँ तक की खतरनाक भी थे और इसीलिए कई टीचर अपने पैरों तले उन मशरूम रूपी सपनों को रोंदते हुए आगे बढ़ जाते थे। उन सपनों को एकत्र कर, उनसे खेला जा सकता था,... मन बहलाया जा सकता था। पर उनका स्वाद नहीं चखा जा सकता था... .. क्योंकि वे 'जंगली' और 'जहरीले' सपने थे!

● ● ●

तो फिर क्या?

अपनी समूची औपचारिक शिक्षा प्रक्रिया के दौरान, जब-जब मन में बेचैनी होती रही, खलबली मचती रही और जब-जब मैं शिक्षा व्यवस्था पर अपने मित्रों से कुछ बतियाती रही; तब-तब मन में ये सवाल भी हमेशा उठते रहे कि अगर यह नहीं तो फिर क्या हो, कैसे बदलाव, कैसे सुधार उपेक्षित हैं? कैसा होगा वह माहौल जब शिक्षा प्रक्रिया मानवता के, समाज के सहज-स्वाभाविक और सार्थक विकास का एक माध्यम बनेगी? यह पुस्तक, छपने से पहले मैंने जिन्हें पढ़ने को दी; उन्होंने भी इस जरूरत को महसूस किया। भले ही, आज मैं औपचारिक शिक्षा प्रक्रिया में शामिल नहीं हूँ... फिर भी इस बारे में अपने कुछ विचार अवश्य व्यक्त करना चाहती हूँ।

ऐसा क्यों है कि जहां एक ओर मनुष्य ने अपने लिए तमाम किस्म की सुविधाएं जुटा ली हैं, तरह-तरह की मशीनें दिन-रात हमारे लिए काम करती रहती हैं, भूमण्डलीकरण (ग्लोबलाईजेशन) के युग में आज कहने को सारी दुनिया सिमट गई है, सूचना क्रांति ने तमाम किस्म की जानकारियों का असीमित भंडार हम तक पहुँचा दिया है, तमाम किस्म के ऐश्वर्य-विलास के साधनों से बाजार पटे पड़े हैं; वहाँ दूसरी ओर आज का इंसान सुखी नहीं है, संतुष्ट नहीं है, शांति अनुभव नहीं करता, दुविधाओं में फंसा है, चिंताओं से घिरा है। कुछ लोग भूख-अभाव से पीड़ित हैं; तो कुछ जीवन के सूनेपन से निराश हैं। कुछ इसलिए दुखी हैं कि वह लुट गए हैं, शोषित हैं; तो कुछ शोषण करके, लूटकर भी अंदर-ही-अंदर भयानक बेचैनी से छटपटाते हैं...। वर्तमान विश्व-समाज का यह दोहरापन, ये विडंबनाएं स्पष्ट संकेत देती हैं कि कहीं न कहीं हमारे 'विकास' में बुनियादी खामियां रह गई हैं, हमारी व्यवस्थाओं में गहरे दोष रह गए हैं। ऊपर की लीपा-पोती सुख-संतोष का क्षणिक या सतही अहसास मात्र दे सकती है; वास्तविक सुख-शांति का गहरा आधार नहीं बना सकती। शिक्षा व्यवस्था भी चूंकि हमारे समाज की ही निर्माण है, समाज का ही एक हिस्सा है... अतः इसमें बुनियादी

बदलाव-सुधार तो समूचे समाज, मनुष्य की विकास की समुची अवधारणा में परिवर्तन के साथ ही सम्भव है।

तो क्या यही मानकर हम शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन-सुधार पर अलग-से सोचना-लिखना बंद कर दें? नहीं ऐसा करना तो बेमानी होगा। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था वर्तमान समाज का दर्पण तो है। पर क्या इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं, क्या यह समाज को समर्पित नहीं?

हम शिक्षा में मानवीय व नैतिक मूल्यों की बात करते/सुनते हैं। पर क्या ये मूल्य मात्र किताबों में लिख देने, स्कूलों के भाषणों में झाड़ देने भर से आ जाएंगे? ऐसा क्यों नहीं होता कि टीचर्स और विद्यार्थी एक-दूसरे से सीखते-सिखाते हुए, इन मूल्यों को समझ कर, आत्मसात कर जीवन में अपनाने का प्रयत्न करते रहें। इन मूल्यों को लेकर यद्यपि सबकी अपनी-अपनी समझ है; फिर भी कुछ व्यापक मूल्यों पर आम सहमती बन सकती है। जैसे समता, सच्चाई, ईमानदारी, सादगी (छोटी कक्षाओं से ही 'लालच बुरी बला है' का संदेश देती कथाओं का आखिर इसी ओर तो संकेत है), परस्पर सहयोग व सद्भाव, अन्य जीवन रूपों के प्रति संवेदना व प्रेम, मेहनत व कर्त्तव्यनिष्ठा, जीवन के प्रति या एक-दूसरे के प्रति वास्तविक लोकतांत्रिक रवैया (आधिपत्य न करना)... आदि। जरूरत है, इस बात की कि ये मूल्य कहने की बात ही न रह जाएं; बल्कि इनके महत्त्व को हम पहचानें। इन्हें आत्मसात करें और अपनाने का सतत प्रयास करते रहें। हम यानि हम सब-विद्यार्थी भी, अध्यापकगण भी, अभिभावक भी।

बच्चा जब इस धरती पर आता है, तो कितना मासूम, कितना सरल-सा होता है। हर बच्चे में अपने-अपने गुण होते हैं, संवेदनाए होती हैं, रचनात्मकता होती है, अपनी-अपनी विशेष प्रतिभाएं होती हैं। समाजीकरण और व्यवस्थायीकरण की पूरी प्रक्रिया कई बार, जाने-अनजाने रूप से, बच्चे के सरल, सहज, स्वाभाविक व्यक्तित्व पर अंकुश लगाती रहती है, उसे दबाती रहती है। जरूरत है, ऐसा माहौल बनाने की जिसमें हर बच्चे का सहज-स्वाभाविक व्यक्तित्व, उसके अंदर छिपे गुण, प्रतिभाएं सहज रूप में बाहर आती रहें। सहज रूप में व्यक्त होता। उनका

व्यक्तित्व समाज के लिए सार्थक-उपयोगी हो सके। 'सहजता' ऐसा शब्द है जो लगता तो बहुत सरल है; पर यही वह सुंदर बात है जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था हमसे छीन रही है।

कितना अच्छा होता यदि हमारी कथावस्तु के एक पात्र हरविंदर की कविताएं सभी टीचर भी सुनते, उसे समझते। देश व समाज की उसकी समझ का, समाज के लिए कोई सार्थक उपयोग हो पाता..। पर हुआ क्या?... वह हम सबको छोड़कर इस दुनिया से चला गया! आज कितने टीचरों को वह याद आता होगा? (जब वह तब भी अपमानित था, तो आज तो क्या ही टीचर उसे याद करते होंगे!)।

कितना अच्छा होता जब आशीष के गीतों व तबले पर चलती उसकी थाप का आनंद सभी ले पाते... पर वह तो पुनः फेल हो जाने के बाद न जाने कहां चला गया था!...

क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि फ्री पीरियड में तीलियों से इमरतों के ढांचे आदि बनाने वाले बच्चे की प्रतिभा एक बार टीचर भी देख पाते, उसे समझ पाते...? पर ऐसा नहीं हुआ! कई बच्चों के सहज, स्वाभाचिक गुण दबे रह गए, धीरे-धीरे दबते-दबते शायद धुमिल पड़ते गए। मैं पास होने के, अपेक्षित अंकों के सर्टिफिकेट तो पाती गई थी.. .. पर मेरा सहज-स्वाभाविक व्यक्तित्व कैसा है, क्या है... यह भूलती गई थी...।

जो फेल हो गए थे, जिनपर फेल होने का ठप्पा लगाकर उन्हें बाकियों से अलग कर दिया गया था, अपमानित किया गया था... वे आज कहाँ हैं। मैं उन्हें बताना चाहती हूँ कि फेल वे नहीं हुए थे, फेल हुई थी वह व्यवस्था जो स्थापित मानकों के संकीर्ण पैमाने पर उन्हें फेल ठहराती थी। पर उनके गुणों, उनकी सहजता, उनके व्यक्तित्व, उनकी छिपी प्रतिभाओं को नहीं देख पाती थी, न समझ पाती थी...! हमें चाहिए एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था जिसमें कोई फेल न हो। क्योंकि यह जरूरी नहीं कि हर इंसान उसके लिए पूर्व निर्धारित किसी सांचे में ढल पाए। फेल कोई भी नहीं होता। किसी को फेल करार करने वाली व्यवस्था अवश्य ही फेल होती रहती है। अगर मौजूदा व्यवस्था में विद्यमान दण्डों

की परम्परा और प्रतिस्पर्धा-महत्त्वकांक्षाओं की असीम होड़ से जनित तनावों को देखा जाए; तो मन में यही बात आती है कि ऐसे स्कूल, ऐसे शिक्षा-संस्थान तो बंद हो जाने चाहिएं क्योंकि ये बेहद खतरनाक हैं।

पढ़ाई का माहौल कैसा हो? टीचरों-विद्यार्थियों में सार्थक व रोचक संवाद-संपर्क (इन्टरैक्शन), चर्चाएं होनी चाहिएं। बच्चों को स्वयं अपने आपसे और अपने हमउम्र साथियों से सीखने-सिखाने का काफी मौका मिले - ऐसी गतिविधियां भी होनी चाहिए। टीचर-विद्यार्थियों का रिश्ता आपसी समझ, प्रेम व विश्वास, एक-दूसरे के सम्मान का होना चाहिए। सहज अभिव्यक्तियां हों। खुला माहौल हो। जाहिर है, पूरे समाज के मूल्यों का, सोच का बदलना इसके लिए जरूरी है। ऐसे माहौल के लिए टीचर भी अलग ढंग से तैयार होंगे।

प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग को प्रोत्साहन मिले। अगर इस पुस्तक का संदर्भ ही लें तो, 'अन्य रचनात्मक गतिविधियों' में प्रतियोगिताओं के स्थान पर परस्पर सहयोग यदि आधार होता तो कितना अच्छा होता। नाटक का आयोजन यदि अन्य हाउसों के साथ प्रतिस्पर्धा के रूप में न होता; तो न उसकी तैयारी को लुक-छिपकर करने की नौबत आती---- न ही उसके परिणाम को लेकर चिंता रहती। नाटक लोगों को पसन्द आया। हम खुश थे। पर हमारी साथ की कुछ कक्षाएं ईर्ष्या से जल रही थीं। स्कूल में कुछ अच्छा हुआ और वह किसी की ईर्ष्या - द्वेष, किसी की चिंता का कारण बन गया---- इसी से उसकी अच्छाई, सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। क्या कारण है कि मैं लेखन की ओर रुझान रखने के बावजूद रचनात्मक लेखन प्रतियोगिताओं से दूर भागा करती थी? या अगर किसी दबाव में आकर उनमें हिस्सा ले भी लेती तो कुछ भी ठीक-से न लिख पाती थी। कारण था कि वह प्रतियोगिता का माहौल होता था। सहज रचनामकता प्रतियोगिता के दायरे में बंधकर खम हो जाती थी।

प्रकृति के अधिकाधिक संपर्क में रहना, प्राकृतिक वातावरण से सीखना बहुत जरूरी है। प्रकृति से प्रेम करना और उसकी सुरक्षा की जिम्मेदारी उठाने की जरूरत भी हम सहज रूप से अपने दिल से

महसूस कर पाएं वही सार्थक होगा न कि वर्तमान होड़, प्रतिस्पर्धा, लालच व आधिपत्य के वातावरण में अलग-से पर्यावरण विषय की किताबें लगा देने से सार्थकता होगी।

मेहनत, श्रम व काम के प्रति सकारात्मक रवैया विकसित हो। हम विभिन्न क्षेत्रों में अपना काम मेहनत, लगन व ईमानदारी से कर रहे व्यवसायियों से उपयोगी व्यवहारिक शिक्षा ग्रहण करें। ऐसे ईमानदार, मेहनती, दक्ष व अनुभवी बढ़ई, कुम्हार, मोची, डॉक्टर, टीचर, संगीतज्ञ, व्यापारी, लेखक, मकैनिक, इंजीनियर आदि के सीधे संपर्क में आकर; हम अपनी रुचि, क्षमता व योग्यतानुसार उनसे विभिन्न कार्यों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकें...।

यह भी जरूरी है कि शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक आदि किसी भी रूप से विशेष जरूरतें रखने वाले बच्चों के प्रति समाज, उनको हीन समझने वाली, अपनी मानसिकता को बदले। शिक्षा प्रक्रिया में सहज रूप से उनकी विशेष जरूरतें पूरी हों। उनपर जो विशेष ध्यान दिया जाना है वह समतामूलक सम्मान, सहजता और उनकी भावनाओं के प्रति संवेदनशीलता के साथ दिया जाए।

शिक्षा व्यवस्था में बदलाव, सुधार के तमाम प्रयास यत्र-तत्र बिखरे हुए प्रयोगों के रूप में ही न रहें। बल्कि मिलकर मजबूत हों, एक मजबूत आंदोलन बने... जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन की आवाज बुलन्द करे, परिवर्तन का माहौल बनाए। समाज की जरूरतों को ध्यान में रखकर सार्थक, उपयोगी और प्रासंगिक विकल्प सुझाए जाएं। समाज की अन्य व्यवस्थाओं में सार्थक परिवर्तन के जो प्रयास चल रहे हैं; उनके साथ मिलकर एक बेहतर, परिवर्तित शिक्षा व्यवस्था के उपाय किए जाएं।

इस परिवर्तन की शुरुआत हम आज, अभी, इसी वक्त से, अपने से ही कर सकते हैं। शुभकामनाएं।

● ● ●

इस आशा से...

इस आशा से कि एक समय ऐसा भी आएगा जब हर बच्चा अपने स्कूल से प्यार करेगा और जब हर स्कूल अपने हर विद्यार्थी से प्यार करेगा, उसे समझेगा। एक समय ऐसा भी आएगा, जब हर बच्चे के अंदर छिपी क्षमताएं, गुण सहज-स्वाभाविक रूप में बाहर निकलेंगे, एक सकारात्मक अभिव्यक्ति के रूप में,... एक बेहतर दुनिया के लिए। कि एक समय ऐसा भी होगा जब पढ़ना-पढ़ाना एक सहज, सरस, रोचक और सार्थक सामूहिक क्रिया होगी, जिसमें दोनों ओर से सीखा-सिखाया जाएगा, जब हर टीचर बच्चों का दोस्त होगा/होगी और बच्चे टीचर को अपना सच्चा हमदर्द व मार्गदर्शक साथी मानेंगे...। जब हर टीचर और हर विद्यार्थी के चेहरे पर मुस्कान खिलती रहेगी और जब कोई 'फेल' न होगा...। जब सब मिलकर रचेंगे एक ऐसा संसार; जहाँ परस्पर प्रेम, विश्वास, शांति और मानवीयता की ब्यार बहा करेगी।... एक समय ऐसा भी आएगा; जब इंसानियत और हैवानियत के निरन्तर चलने वाले संघर्ष में इंसानियत ही अधिक सफल होती दिखेगी और शिक्षा-संस्थान इंसानियत की इस सफलता का मार्ग दर्शाने वाले प्रमुख स्थान बनेंगे.....। हाँ, एक समय ऐसा जरूर आयेगा.....। इसी आशा के साथ।

रेशमा भारती

सोशल चेंज पेपर्सद्वारा सार्थक प्रकाशन का एक प्रयास

भारत डोगरा द्वारा लिखित पुस्तकें/पुस्तिकाएं

1. राष्ट्रीय एकता पर दस पोस्टर, मूल्य 25 रुपए
2. इराक पर हमला विश्व शांति के लिए खतरे की घंटी - पृष्ठ 128, मूल्य 80/-
3. रास्ते और भी हैं-वैकल्पिक विकास की रूपरेखा, पृ०170, मू०120रु०
4. पारदर्शिता और भारत में सूचना के अधिकार का कानून, पृष्ठ 232, मूल्य 150/- रुपये।
5. कैसा विकास किसका विकास - एक सार्थक परिभाषा की तलाश - पृष्ठ 120, मूल्य 70/- रुपए (बुक्स फार चेंज का प्रकाशन)
6. धूम्रपान और तम्बाकू के खतरे - मूल्य 4 रुपए, पृष्ठ 8
7. कबीर - जिन्होंने अध्यात्म को सार्थक सामाजिक बदलाव से जोड़ा, मूल्य 12 रुपए (मधु के साथ सह लेखन)
8. वैश्वीकरण और गांवों की आत्मनिर्भरता - 4 रु०
9. हमारे दस्तकार - इम्पोरियम की चमक दमक के पीछे वास्तविक हालत क्या है? मूल्य 8 रुपए
10. विकास पर्यावरण और समाज कल्याण का विश्वकोष, भारत और विश्व दोनों स्तर की जानकारी, एक ही पुस्तक में, 264 पृष्ठ, रु० 210
11. टिकाऊ खेती की ओर, पृष्ठ 32, मूल्य 22 रुपए
12. इतिहास से हम क्या सीखें, पृष्ठ 32, मूल्य 20 रुपए
13. सिर्फ सपना नहीं, एक संभावना है-नई दुनिया -पृष्ठ 112, मूल्य 60/-
14. कृषि और खाद्य सुरक्षा नए संकट के दौर में - विश्व व्यापार संगठन, बीज उद्योग और जेनेटिक इंजीनियरिंग-पृष्ठ 72, मूल्य 50/-
15. उम्मीद मत छोड़ना - कविता संकलन, मूल्य 40 रुपए
16. ग्रामीण रोजगार योजनाओं की हकीकत, पृष्ठ 8, मूल्य 4 रुपये
17. शोषण का माध्यम बन रहा विदेशी व्यापार, पृष्ठ-24, मूल्य 16 रुपये
18. क्या टेलीविजन बच्चों व परिवार के लिए खतरनाक हो सकता है। -10रु०
19. बम और हम, पेज 8, मूल्य 4 रु०
20. परमाणु युद्ध में कोई विजेता नहीं है, पेज 16, मूल्य 8 रु०
21. आतंक के साये में आशा, पृष्ठ 40 मूल्य 30 रुपये
22. भारत की आजादी की लड़ाई में निरंतरता, साझेदारी व बलिदानों की कहानी - जरा याद करो कुर्बानी, 24 पृष्ठ, मूल्य 12 रु०
23. गंगा नदी - श्रद्धा को वास्तविक अर्थ से जोड़िए, मूल्य 10 रुपये
24. सच्चे स्वैच्छिक कार्य की पहचान - 16 रु०
25. गांधी का समता संदेश - 4 रु०
26. रहने को घर नहीं है - 10 रु०
27. राजस्थान एक साझा संघर्ष - मजदूर किसान शक्ति संगठन की कहानी, मूल्य - 14 रु० (सह लेखिका-मधु डोगरा)
28. हम कैसे गांव चाहते हैं - 10 रु०
29. लोग ही बचाएंगे जैव विविधता - 10 रु०

30. कौन बांटेगा बेघर लोगों का दर्द? - 12 रु०
31. प्राकृतिक संसाधनों के समतामूलक उपयोग पर आधारित गरीबी उन्मूलन व इसमें महिलाओं की भागेदारी-चित्रकूट जिले(उ.प्र.) के मानिकपुर व मऊ प्रखंडों का अध्ययन - मूल्य 30रु०
32. आजादी की लड़ाई में शहीद हुई महिलाएं, पृष्ठ 8, रु०4/-
33. अनेक धर्मों से बना महान देश, पृष्ठ 16, रु० 8/-
34. आत्मनिर्भरता की ओर गांव, पृष्ठ 8, रु० 4/-
35. भारत व पाकिस्तान में युद्ध कैसे रुके, पृष्ठ 8, रु० 4/-
36. दक्षिण एशिया को चाहिए शान्ति आंदोलन, पृष्ठ 8, रु० 4/-
37. युद्ध के विकल्प, पृष्ठ 8, रु० 4/-
38. साम्प्रदायिकता से घायल धर्म, पृष्ठ 8, रु०4/-
39. शान्ति के लिए महिलाएं, पृष्ठ 8, रु०4/-
40. डा० आर० एच० रिछारिया - मूल्य 16/-
41. क्यों जरूरी है महिला आन्दोलन - मूल्य 4 रु०
42. नदी नहीं जोड़ना, बूंद-बूंद संजोना - मूल्य 8/-
43. दिशा - दुख-दर्द दूर करने की साझेदारी को संघर्षो ने और मजबूत किया, पृष्ठ 16, मूल्य 10 रुपए
44. लोकनायक जयप्रकाश नारायण - मूल्य 4/-
45. बड़े अकालों के सबक - मूल्य 4/-
46. स्वास्थ्य की समग्र सोच - मूल्य 4/- (मधु के साथ सह-लेखन)
47. स्वस्थ समाज के लिए - मूल्य 4/- (मधु के साथ सह-लेखन)
48. संगम से बढ़ा सौन्दर्य - मूल्य 10/- (रेश्मा भारती के साथ सह-लेखन)
49. रघुबीर नगर-जिनका रोजगार और आवास सरकार ने छीना मू०4रुपए
50. प्रदूषण कम करने के साथ रोजी-रोटी भी बचाईए-मूल्य 4/-
51. कैसा हो रैन बसेरा - मूल्य 6 रुपए
52. शहीद भगत सिंह, पृष्ठ 16, मूल्य 10 रुपए
53. अकाल से संघर्ष मेहनतकशों के संग, बाड़मेर में लोक अधिकार नेटवर्क - पृष्ठ 32, मूल्य 40/- रुपए
54. मजदूर किसान शक्ति संगठन - सूचना के जनअधिकार से बुलंद किया भ्रष्टाचार विरोधी संघर्ष, मूल्य 4 रुपए
55. क्या हम इंसान नहीं है? - दिल्ली के विस्थापित झोंपड़ीवासियों का सवाल, मूल्य 5 रुपए
56. नोआखली व बिहार के गांवों में गांधी जी-घोर हिंसा में अहिंसा का संदेश - पृष्ठ 8, मूल्य 4 रु0 (रेशमा भारती के साथ सहलेखन)
57. विभिन्न धर्मों को मूल एकता महात्मा गांधी के विचार - पृष्ठ 8, मूल्य 4 रु0 (रेशमा भारती के साथ सहलेखन)
58. सांप्रदायिकता के प्रखर विरोधी थे महात्मा गांधी - पृष्ठ-8, मूल्य-4 रु0 (मधु डोगरा के साथ सहलेखन)
59. आलीशान भवन बनाने वाले झोंपड़ी में रहने को मजबूर क्यों? - निर्माण मजदूरों के कानूनी हकों का राष्ट्रीय अभियान - पृष्ठ 24, मूल्य 20 रु0
60. शहीद शंकर गुहा नियोगी हत्याकांड के मुकदमे का विशेष महत्व - पृष्ठ 8, मूल्य -4रु0
61. श्रीदेव सुमन की अमर कहानी - मधु डोगरा सह लेखिका, मूल्य 16.00 रुपए
62. मैला ढो रहे पांच लाख सफाई कर्मी, मानवाधिकारों का व्यापक उल्लंघन, पृष्ठ 16, मूल्य 8 रुपए
63. ईसाईयों पर हमले बंद करो। पृष्ठ-16, मूल्य 8 रुपये

64. सूचना के अधिकार का राष्ट्रीय कानून (2005) अर्थ महत्त्व व संभावनाएं - 8 पृष्ठ, मूल्य 4 रुपये।
65. भिक्षावृत्ति रोकथाम के नाम पर अन्याय व अत्याचार, पृष्ठ 16, मूल्य 8 रुपये।
66. अरुणोदय संस्थान - उपेक्षित समुदायों व समस्याओं के बीच उम्मीद जगा रही एक संस्था, पृष्ठ 12, मूल्य 6 रुपये
67. नई दुनिया की तलाश, मूल्य 4 रुपये
68. लोकतंत्र और विश्व व्यापार संगठन, पृष्ठ 8, मूल्य 4 रुपये।
69. महिलाएं आगे आएं तो पूरे समाज का भला है, मूल्य 4 रुपये, पेज 8
70. शराब का विरोध जरूरी है। मूल्य 4 रुपये।
71. शहीद शंकर गुहा नियोगी की राह - संघर्ष व निर्माण का मिलन, पृष्ठ 64, मूल्य 50 रुपये।
72. नर्मदा बचाओ आंदोलन की मांगे मानने से लोकतंत्र की बुनियाद मजबूत होगी - मूल्य 4 रुपये
73. दिल्ली में उमड़ता रोजी-रोटी का संकट - मूल्य 10 रुपये
74. बसेरा बचाने का संघर्ष - मूल्य 4 रुपये
75. देहरादून जेल में साक्षरता—ऊंची दीवारों के एक छोटे झरोखे से आई आशा की एक नन्ही किरण - मूल्य 4 रुपये
76. संकल्प — शोषित—उपेक्षित सहरिया समुदाय के लिए उम्मीद की एक किरण - मूल्य 12 रुपये
77. कचरे में छिपा दर्द-शहर साफ रखते हैं पर सबसे उपेक्षित हैं कचरा बीनने वाले - मूल्य 15 रुपये
78. महिला किसानों की टिकाऊ खेती ने दिखाई उम्मीद की राह - गोरखपुर एन्वायरन्मेण्टल एक्शन ग्रुप के प्रयास - मूल्य 12 रुपये
79. कुंवर प्रसून—हमारे प्रेरणा स्रोत
80. धरती और इंसान-इतिहास के सबसे नाजुक दौर में धरती पर सब तरह के जीवन का रक्षक बनना होगा - मूल्य 12 रुपये
81. राजस्थान में -उपेक्षितों के संघर्ष व संगठन -एक आस्था, एक विश्वास - मूल्य 15 रुपये
82. परमार्थ - सबसे उपेक्षित लोगों का दुख-दर्द कम करने में जुटी एक संस्था - मूल्य 15 रुपये
83. जन सहयोग से ही बचेंगे वन्य जीव - मूल्य 4 रुपये
84. भूमि-अधिकारों पर हमला और 'जनादेश' अभियान की चुनौती - मूल्य 6 रुपये
85. किसान आदिवासी संगठन - तवा के आसपास नवजीवन की आहट - जब सपने संकल्प बनते हैं - पृष्ठ 16, मूल्य 12 रुपये
86. मजदूरों का अपना अस्पताल -शहीद अस्पताल - मूल्य 14 रुपये
87. सूचना का जन-अधिकार व हमारे गांव - मूल्य 8 रुपये
88. हम कैसा देश चाहते हैं? - मूल्य 8 रुपये
89. सबसे कुशल मजदूरों व पानी के अमूल्य परंपरागत ज्ञान वाले ओड समुदाय की बस्ती में तोड़-फोड़ का संकट समाप्त करो - मूल्य 4 रुपये
90. विश्व व्यापार संगठन पर पैनी नजर रखिए, महत्वपूर्ण निर्णयों का वक्त नजदीक आ रहा है - मूल्य 4 रुपये
91. खाद्य-सुरक्षा के लिए एक सार्थक पहल - बेहद उपेक्षित क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्ताओं ने कम समय में प्रेरणादायक उदाहरण प्रस्तुत किया - मूल्य 6 रुपये
92. गरीबी व भूख को हटाना है या कारपोरेट वर्चस्व को बढ़ाना है? - आखिर क्या कहना चाहती है विश्व विकास रिपोर्ट (2008) - मूल्य 8 रुपये
93. बहुत उम्मीद है राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून से - मूल्य 4 रुपये

94. निराशा से आत्म-सम्मान की ओर बढ़ रहे किसान - विदर्भ के हजारों किसानों में उम्मीद की नई लहर - मूल्य 12 रुपये
95. बढ़ती दवा कीमतों और स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण का संकट - मूल्य 4 रुपये
96. वैक्सीन नीति में राष्ट्रीय हित पर हमले - मूल्य 4 रुपये
97. समझौते जो रोकते हैं खतरनाक हथियारों का प्रसार - मूल्य 10 रुपये
98. हकदारी के साथ टिकाऊ खेती को जोड़ रहा है किसान संगठन - पूर्वांचल में लघु सीमान्त कृषक मोर्चे के प्रयास - मूल्य 8 रुपये

रेशमा भारती द्वारा लिखित पुस्तकें/पुस्तिकाएं

99. साहस, स्नेह और संवेदना की अमिट निशानी - सुभद्रा कुमारी चौहान, पृष्ठ 72, मूल्य रुपये 50/-
100 गुरु नानक : जिन्होंने गहरी भक्ति को निर्भीक सामाजिक बदलाव से जोड़ा - पृष्ठ 16, मूल्य 12 रुपए (भारत डोगरा के साथ सह-लेखन)
101. जीवन-मृत्यु दोनों में प्ररेणास्रोत बने गणेश शंकर विद्यार्थी - पृष्ठ 32, मूल्य 20 रु0 (भारत डोगरा के साथ सहलेखन)
102. अहिंसा, अमन और न्याय को समर्पित संघर्षशील पठान खान अब्दुल गफ्फार खां ; पृष्ठ 32, मूल्य-20रु0 (भारत डोगरा के साथ सहलेखन)
103. स्कूल - पास या फेल? वर्तमान शिक्षा पद्धति को परखता एक विद्यार्थी का आत्मकथात्मक आकलन- पृष्ठ 160 मूल्य 80 रु0
104. बिरसा मुण्डा - स्वतंत्रता संग्राम के आदिवासी जननायक पृष्ठ-24 मूल्य 16 रु०
105. ज्योतिबा फुले व सावित्री फुले - दलित चेतना व महिला शिक्षा के अग्रदूत - रेशमा भारती सह लेखिका, मूल्य 16.00 रुपए
106. समुद्रों से गहरा है समुद्रों का दर्द - मूल्य 18 रुपये
107. 'इस धरती को वैसे ही प्यार करना जैसे भगवान हम सबको प्यार करता है।' प्रकृति और मनुष्यों के संबंधों पर अमरीका के मूल निवासी चीफ सिएथल का 1855 में लिखा पत्र - मूल्य 4 रुपये
108. मीरा - कृष्ण प्रेम और भक्ति की मिसाल - मूल्य 16 रुपये
109. दिल्ली के पेड़ों का पत्र -जनप्रतिनिधियों और जनता के नाम अपील - मूल्य 4 रुपये
110. भगीरथ नगर भाटी माईन्स के बीस हजार से अधिक बेहद हुनरमंद लोगों को उजड़ने से बचाने के 11 कारण - मूल्य 4 रुपये

अंग्रेजी पुस्तकों का सूची-पत्र अलग है।

(डाक व्यय अतिरिक्त)

पुस्तकें मंगवाने के लिए

सोशल चेंज पेपर्स **(Social Change Papers)**

के नाम से चेक या ड्राफ्ट इस पते पर भेजें : -

सी-27, रक्षा कुंज, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

दूरभाष : 25255303

प्रकाशन व मीडिया क्षेत्र में सार्थक प्रयास

(1) **हमारे प्रकाशन** - विकास, पर्यावरण, समाज सुधार, जन आंदोलनों आदि विषयों पर हमारे लगभग 177 प्रकाशन (पुस्तक व पुस्तिकाएं) हैं - 91 हिन्दी में व 86 अंग्रेजी में। हिन्दी के पूरे सेट का मूल्य 1800/- रुपए है व अंग्रेजी के पूरे सेट का मूल्य 2450/- रुपए है।

(2) **प्रेस-क्लिपिंग सेवा** - विकास, पर्यावरण, समाज-सुधार, जन-आंदोलनों आदि विषयों पर हिंदी व अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं की कतरनें हमारे पास उपलब्ध हैं। इन्हें 45 विषयों में बांटा गया है व प्रत्येक विषय की हिंदी व अंग्रेजी कतरनों का मासिक शुल्क निर्धारित किया गया है। इन विषयों का सूची पत्र (शुल्क सहित) प्राप्त करने के लिए हमें लिखें।

(3) **लेख सेवा** - ऊपर बताए विषयों पर हम प्रति माह लगभग आठ लेख प्रेषित करते हें। (चार लेख हिंदी में व चार अंग्रेजी में)। आप लेखों को प्रकाशन अधिकार सहित हमसे प्राप्त कर सकते हैं। वार्षिक शुल्क - हिन्दी में 1500/- रुपए, अंग्रेजी में 1500/- रुपए व दोनों भाषाओं में 3000 रुपए।

(4) **लाईब्रेरी सेट** - अपने प्रकाशनों के साथ विख्यात साहित्य, (कहानी-उपन्यास, नाटक-कविता), बाल साहित्य, नव साक्षर साहित्य आदि से लाईब्रेरी आरंभ करने के लिए 150 पुस्तकें उपलब्ध हैं। इस लाईब्रेरी सैट (150 पुस्तकों) की डाक खर्च सहित कीमत है 2200 रुपए।

इन प्रयासों से संबंधित अन्य जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

सोशल चेंज पेपर्स

सी-27, रक्षा कुंज, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

दूरभाष : 25255303